स-राज



सु-राज

हिमांशु जोशी

राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली

दो शब्द

विस्तार की अपनी विशेषता होती है तो सीमित शब्दों में कुछ कहने के प्रयास का अपना महत्त्व। पर विशेष और अ-विशेष से परे एक प्रयास और होता है, अनायास, जिसे सहज की संज्ञा दी जा सकती है। सहज रूप से कहे गए का अपना एक अलग स्वरूप होता है—अपना अलग सौन्दर्य।

'गु-राज' जब लिख रहा था तो लगा कि बिना अधिक विस्तार दिए ही, रचना स्वयं समाप्त हो गई। इसका घटना-क्रम बहुत लम्बा है, अतः किसी भी सीमा तक इसे विस्तृत किया जा सकता था, किन्तु कम-से-कम शब्दों में, अधिक-से-अधिक समेटने के सहज प्रयास के कारण उपन्यास बनते-बनते यह उपन्यासिका बन गई।

लगता है, ज्यों-ज्यों समय बीत रहा है, 'कबीर' की शैली का प्रभाव भी कहीं बढ़ता चला जा रहा है। क्या बिना लाग-लपेट के, सीधे-सीधे शब्दों में पाठक तक बात नहीं पहुंच सकती? समय के साथ-साथ उसका दायरा भी बढ़ रहा हो तो आश्चर्य नहीं!

स्कण्डेनेवियाई या अन्य यूरोपीय देशों की भाषाओं के साहित्य में ऐसे अनेक प्रयोग हुए हैं। अभी कुछ समय पूर्व 'हेल्गा' में प्रकाशित मात्र पन्द्रह पृष्ठों की उपन्यासिका पढ़कर मुझे 'अंधेरा और' की याद आई।

●

विविध व्याधियों से घिरा यह रुग्ण समाज भौतिक उपलब्धियों के पश्चात् भी प्रगति के नाम पर, अपनी ही परिधि पर घूम रहा है। निकट आने के बावजूद, मनुष्य और मनुष्य के बीच की दूरी निरन्तर बढ़ रही है। सत्ता, शक्ति, सम्पन्नता, न्याय—ये शब्द मात्र कुछ ही लोगों तक सीमित रह गए हैं। दिन-प्रति-दिन बढ़ती अर्थ की महत्ता अनेक अनर्थों

के द्वार खोल रही है। राजनीतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक शिष्टाचार का पर्याय बन गया है।

ऐसी विकट स्थिति में जो ईमानदार है, ईमानदार बने रहना चाहता है, वह कैसे जिए ? जो असमर्थ है—असहाय, वह अपने दुर्बल पांव आस्था की किस धरती पर, कहां टिकाए ?

'सु-राज' के गांगि 'का या देवा, 'अंधेरा और' के परसिया, 'कांछा' के नायक 'कांछा' के जीवन की क्या यही विडम्बना नहीं ?

जो विचार या साहित्य समाधान नहीं दे सकता, वह पंगु होता है— गूंगा। दृष्टि होते हुए भी दृष्टिहीन होता है। जब स्थिति ऐसी हो तो क्या साहित्य का दायित्व कुछ अधिक नहीं बढ़ जाता ?

मेरे जीवन का आरम्भिक काल कुमाऊं के पर्वतीय प्रदेश, हिमालय की तराई तथा नेपाल की सीमा-रेखा के समीप बीता है। ये तीनों क्षेत्र त्रिभुज के तीनों कोणों की तरह परस्पर जुड़े हैं। 'सु-राज' में कुमाऊं पर्वतीय क्षेत्र, 'अंधेरा और' में तराई का आदिवासी अंचल और 'कांछा' में नेपाल की पृष्ठभूमि है। ये अलग-अलग क्षेत्रों की कहानियां होने के बावजूद इनमें बहुत कुछ साम्य है। सबसे बड़ा साम्य है—जीवन-संघर्ष का। जिन्दा रहने के लिए मरने का।

—हिमांशु जोशी

ए-2/182, सफदरजंग एनक्लेव,
नई दिल्ली

अग्नि, सिद्धार्थ और अमित के लिए

सु-राज

'कका, यह घर अब नहीं चलेगा'''।

'क्यों—?' सहज आश्चर्य से गागि'का बोले।

'नहीं, बहुत हो चुका अब!' देवा ने हाथ हिलाते हुए कहा, 'इससे अधिक नहीं'''।'

'गागि'का ने अपने गंजे सिर से, पतली-सी दोपलिया सफेद टोपी उतारकर घुटने पर रखी। ऊपर से नीचे तक यों ही एक बार घुसले सिर पर हाथ फेरा। असमंजस में देवा की ओर देखा। कुछ कहने के लिए होंठ फड़के, किन्तु फिर भिंच गए।

बाहर चाक-बरण्डे में अभी तक शोर था। बच्चे रो रहे थे। लकड़ी के कच्चे फर्श पर कोई ज़ोर-ज़ोर से पाँव पटक रहा था—जैसे पेट में शाल (पीड़ा) उठ रही हो।

'ऐसा भी होगा, देव, कभी सपने में भी सोचा नहीं था।' गागि'का ने मौन तोड़ते हुए कहा, 'अरे, घर तो चलता है कम खाकर—कष्ट उठाकर। एक-दूसरे का दु:ख झेलकर। पर'''यहाँ तो हाल ही और है। किसमें क्या कहे?' कहते-कहते काका चुप हो गए।

'घर-बार के जिस मामले में आपने जो कहा, मैंने किया।' देवा बोला, 'हरकी ने देवी की धार के तीन खेत दबा लिए। पंच-सरपंच सब ने झूठ बोला। सरासर बेईमानी की, उसी का पक्ष लिया—मैं चुप रहा। आनसिंग छोटी गूल का पानी रात को चुपचाप काटकर अपने खेत में लगा लेता है—मैं मुंह पर लीसा लगाकर चुप देखता रहता हूं''। दाड़िम का पेड़ हमारा है, पर फल तल्ले घर नरलि काकी तोड़कर ले जाती है'''। अपने ही इस घर में दिन-रात खटने पर भी मुझे क्या मिलता है? हमारे

लोकि की मां बीमार पड़ी है। मुट्ठी-भर दूध भी उसने कभी देखा हो—मुझे याद नहीं। छोटी वहू हमारे और अपने बच्चों के बीच अलग-अलग दो हाथ करती है···।' देवा की आवाज में घुटन ही नहीं, दबा हुआ आक्रोश भी था।

'अपने बच्चों को तो छोटी वहू कनक के फुल्के देती है और हमारे बच्चों को मंडुवे की बकोड़-जैसी (पेड़ की छाल-सी) काली रोटियां!' देवा तनिक रुककर बोला, 'गलती किसी की हो, मार हमारे बच्चों को पड़ती है। आपकी इज्जत के डर से कुछ नहीं कहते, नहीं तो कब का भला भंग हो गया होता, इस घर का···! लोकि की मां मैके में ही रहने की बात करती है। हमारे अलावा वहां है ही कौन, उनको पानी औड़ कर पिलाने वाला···!' देवा रौ में बोलता चला जा रहा था।

'बच्चे तो सब बराबर होते हैं रे! पांचों अंगुलियां बरोबर!' काका बुदबुदाए, 'छोटी को ऐसा अनर्थ नहीं करना चाहिए···।'

'ठुल बोज्यू—(बड़ी भाभी) के मैके वालों ने कपड़े भेजे हैं। परसों पिपलाटी का मथुरिया दे गया था। छोटी कहती है—उसका भी भाग होना चाहिए। आज यह महाभारत उसी वजह से मचा है···।'

बड़ी वहू का पक्ष लेते हुए गांगि 'का बोले, 'तेरी ठुल बोज्यू बेचारी तो अभागी है—विधवा। उससे किसी का क्या डाह! उसके गरीब भाई ने खा-न-खाकर कुछ भेजा तो उस पर हिस्सा लेने की बात सोचना भी पाप है—महापाप···।' दर्द के साथ कहते-कहते गांगि 'का चुप हो गए।

बाहर का शोर अब तक थमा न था। जब वहां बैठना मुश्किल हो गया, तब वह वैसे ही बाहर निकल गए।

उन्हें सामने देखते ही छोटी वहू झट से घूंघट काढ़कर, बच्चे को उठाए चुलान की तरफ चली गई। चूल्हा बुझ चुका था। मांज में रखा भात जल गया था—दुर्गन्ध-सी आ रही थी। मंझली वहू—लोकि की मां, लोकि को दूध पिलाती हुई वैसी ही बैठी रही। आंचल नीचे तक सरका लिया—लाज के मारे। बड़ी वहू की आंखों में भुमके फूट रहे थे—बरसात के जैसे परनाले। गालों पर ढुलकते आंसुओं को पिछौड़ी के फटे चाल से पोंछ रही थी—सिसकती हुई।

काका की उपस्थिति मे सारा शोर सहसा शान्त हो गया।

'वह, तू सबमे बड़ी है न!' गांगि 'का ने शून्य मे जैसे कुछ टटोलते हुए कहा, 'इसलिए तुझे इन सबसे अधिक सहना चाहिए। छोटी कपड़े के लिए रार मचा रही है तो दे दे। तेरे लिए मैं और सिलवा दूंगा।' उनका स्वर उदास हो आया, 'घर मे तू सबसे सयानी है न! जिठानी ही नही, इनकी सास की ठौर पर भी है…। यह बच्ची है—नादान। इसे अकल ही होती तो ऐसा कुपाचित करती…?'

बड़ी बहू बहती नाक पोंछती भीतर गई। काठ के भकार में से नये मिले कपड़ो की गठरी उठा लाई और चुपके से काका के सामने रख दी।

गांगि'का छोटी बहू की ओर कपड़े बढ़ा ही रहे थे कि नन्दू बाज की तरह झपटा, 'हम मंगते नही काका! भीख नही चाहिए हमें…!'

'क्या कहा—?' तनिक अचरज से गांगि 'का ने चेहरे की ओर देखा, 'घर में भीख होती है पगले!'

'हां, हां, होती है। होती है! होती है!' नन्दू ने गठरी हवा मे उछालकर दूर कोने में फेंक दी।

अवाक्-से देखते रह गए काका। देर तक मूर्तिवत् खड़े रहे। फिर चुपचाप लाठी उठाई और पचायतघर की ओर निकल गए।

सारा दिन इधर-उधर भटकते रहे, पर रात के अंधियारे मे रास्ता टटोल-टटोलकर जब घर पहुचे तो देखा—घर मे मातम-सा छाया हुआ है। अंधेरा।

देवा ने बतलाया, 'ठुल बोज्यू से छोटी की कुछ कहा-सुनी हो गई थी। गुस्से में आकर छोटी ने वे कपड़े आग मे झोक दिए। ठुल बोज्यू रोते-रोते बेहोश हो गई हैं। अभी एक घडी पहले होश आया।'

जले हुए, काले टुकडे उसने सामने रख दिए।

गांगि 'का का पोला मुह खुला-का-खुला रह गया।

जीवन मे कभी मन्दिर नही गए गांगि 'का। कभी व्रत नही रखा, न तीरथ-बरत ही किया। पाप-पुण्य क्या होता है, इस पर भी विचार नहीं किया। जब जो काम आया, सहज भाव से कर दिया। उसी को

पूजा माना, उसी को पुण्य !

जब तक परमानन्द पण्डित जिन्दा रहे—सुई के साथ लगे धागे की तरह आंखें मूंदे-मूंदे पीछे लगे रहे। न दिन देखा, न रात। न भूख देखी, न प्यास। न वर्तमान देखा, न भविष्य। परमानन्द पण्डित ने जो कहा, उसी को ब्रह्मवाक्य मान कर, उसी का पालन करने में अपने को धन्य समझा।

फिरंगियों का राज था, उन दिनों। परमानन्द पण्डित ने कहा, 'हाथ के कते, हाथ के बुने कपड़े पहनो,' गांगि'का ने खादी धारण कर ली। परमानन्द पण्डित ने कहा, 'जब तक देश आजाद नहीं होता, हम आराम नहीं करेंगे। फिरंगियों से मरते दम तक लड़ते रहेंगे।' गांगि'का ने उस दिन से कभी आराम नहीं किया। निरन्तर फिरंगियों से लड़ते रहे। यद्यपि फिरंगी कैसे होते हैं ? क्या होते हैं ? यह अपने जीवन में उन्होंने कभी देखा न था और न देखने की आवश्यकता ही अनुभव की। चूंकि परमानन्द पण्डित कहते हैं, इसलिए उसे सच मानकर, उसका पालन करते रहे।

परमानन्द पण्डित ने एक दिन कहा—'अपना-पराया इस संसार में कुछ नहीं होता, गंगानन्द !' इसलिए उन्होंने मान लिया कि अपना-पराया सचमुच में कुछ नहीं होता। बूढ़े माता-पिता को बिलखता छोड़कर वह घर-घर, द्वार-द्वार अलख जगाने निकल पड़े। जहां रात हुई ठहर गए, जहां भूख लगी खा लिया। खाना नहीं भी मिला तो प्रभु का नाम लेकर ठण्डा जल पीकर सो गए।

1942 में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चला—'करो या मरो' का नारा।

परमानन्द पण्डित हल्द्वानी में पकड़ लिए गए। उनके साथ-साथ वह भी जेल में जा धमके।

जेल में परमानन्द पण्डित ने पच्चीस दिन की भूख-हड़ताल की तो छब्बीसवें दिन ही उनके साथ गांगि'का ने भी अन्न-जल ग्रहण किया।

पन्द्रह अगस्त को जब आज़ादी मिली, तो एक दिन परमानन्द पण्डित ने बुलाकर समझाया—अब लड़ाई खतम हो गई गंगानन्द ! अंग्रेज़ हार-कर, देश छोड़कर चले गए। हमारा संघर्ष अब समाप्त हो गया। तुम भी अपने घर जाओ।'

जब धनकोट, भिगराड़ा और रौल्यूड़ा के लोहारों-शिल्पकारों के घर जाकर अन्न खा आते, पानी पी आते, तो भाई-बिरादरी में कम 'थू-थू' न होती। हुक्का-पानी तक अर्से तक बन्द रहता, किन्तु कभी भी उन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया। लोग क्या कहते हैं—उन्होंने न इसकी कभी परवाह की, न कुछ महत्व ही दिया। सामने के गधेरे में अपना नौला अलग खोद लिया और वहीं से पानी पीते रहे।

तीनों बच्चे बड़े हो गए तो उनके ब्याह के वक्त भी जाति नहीं देखी। लड़की सुशील लगी, परिवार संस्कारी—बस, विवाह कर दिया।

तन पर खादी के फटे चीथड़े पहले की तरह वह आज भी टांगे रखते। आज भी पहले की तरह दिन-रात काम पर जुटे रहते—न दिन देखते, न रात!

कहीं पटवारी जुलम करता तो सीना तानकर खड़े हो जाते। जंगल का पतरौल गांव की औरतों को परेशान करता तो लोगों को लेकर वहां धमक पड़ते। हरिजनों की बरात में सबसे आगे-आगे लगते। हर दुखी का घर उन्होंने अपना घर समझा। हर असहाय को सहायता पहुंचाई। दुनिया में जिसका कोई न होता, गांगि 'का उसके आंगन में वट-वृक्ष की तरह आ खड़े होते।

कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा जोड़कर कहने भर के लिए एक 'गृहस्थी' बसा ली थी। किन्तु उम्र-भर रहे—अनिकेत संन्यासी ही। शादी नहीं की, पैसा नहीं जोड़ा—इसका मलाल कभी भी नहीं रहा।

अपने और पराये बच्चों के बीच भेद क्या होता है—उन्होंने जाना नहीं।

आनन्द जब गुज़रा तो दिनों ही नहीं, महीनों तक वह पगलाए-से रहे। बहू को घर पर ही रखा। जो कुछ उसके लिए बन सकता था, पिता की तरह करते रहे।

देवा और नन्दू को पिपलाटी की पाठशाला तक ही नहीं, खेतीखान के मिडिल स्कूल तक पढ़ाया-लिखाया—दो आंखवाला बनाया। स्वयं कष्ट उठाते रहे, किन्तु कभी किसी को आंच न आने दी। आज इस ढलती उम्र में भी निरन्तर खेतों में अंटे रहते। चरखा-करघा सब छोड़कर

दिन-रात पसीना बहाते रहते .

तीन

उस सारी रात गांगि 'का सो न पाए। तरह-तरह के विचार मन में उठते रहे। परमानन्द पण्डित ने मृत्यु से कुछ महीने पहले कहा था—लड़ाई खतम हो गई गंगा ! अंग्रेज हार गए। किन्तु काका को अब भी लगता कि अंग्रेज हार अवश्य गए, किन्तु लड़ाई खतम कहां हुई ? तारा के घर में एक जून भी चूल्हा नही जलता। भवानी का होनहार बेटा दिग्गू पाठशाला नहीं जा पाता, क्योंकि किताबों के लिए पैसे की व्यवस्था नहीं हो पाती। रुदिया लोहार की पत्नी कफन के बिना ही जला दी गई। पटवारी किसी निरपराधी को हथकड़ी लगाकर होलात में ठूस देता है। इत्ती बड़ी दुनिया में कहीं कोई ठौर नहीं, जहां आदमी जी सके !

दूसरी तरफ तिनका-तिनका जोडकर उन्होंने यह घोसला बनाया था—कलह और कुपचित के अलावा यहा क्या है ? भाई के दिल में भाई के लिए दर्द नहीं तो औरों के लिए क्या होगा !

उन्हें अजीब-सी खिन्नता का अहसास होने लगा। एक गहरी निराशा—हताशा का।

सुबह उठते ही उन्होने देवा को बुलाया—'छोटी बहू ने यह जो किया, मुझे अच्छा नहीं लगा। आखिर ऐसा भी क्या था, जो कपड़े जला दिए ? नये थे, किसी ने पता नहीं किस भावना से दिए थे—घर में कोई भी पहन लेता। क्या फर्क पड़ता ! बड़ी बहू विधवा बिचारी के मन में क्या गुजरी होगी…!'

देवा सिर झुकाए बैठा रहा।

'मेरी एक ही साध थी देवा—तुम लोग मेहनत-मजूरी करके दो टुकड़े आराम से खाओ। मिल-जुलकर प्रेम से रहो। किन्तु मुझे अब लगता है—वह सब मृगतृष्णा थी। छल था। भुलावा था। तुम दो भाई हो

कमाने वाले, एक विधवा भाभी तुम्हें भार लगती है ! उसे ही तुम आंख के झाड़ से भी बदतर समझते हो तो दूसरों को क्या नहीं समझोगे !

'देवा, घर-बाहर—हर जगह से मेरा सपना टूट रहा है। मुझे कहीं कोई किनारा नहीं दीखता। घनकोट, रौल्यूड़ा के लोहारों की जैसी दशा अंग्रेजों के समय थी, उसमें आज तक कोई खास अन्तर नहीं आया। आज भी उन्हें दिन-भर मेहनत-मजूरी करके दो वक्त की रोटी नहीं मिलती। आज भी वे बेगारी करते हैं। थोकदार-जिमदार आज भी उन्हें लूटते हैं।' काका ने एक गहरी सांस ली।

कुछ रुककर आगे बोले, 'मुझे लगता है, परमानन्द पण्डित भी गलत कहते थे। वह कहा करते थे—फिरंगियों के जाते ही देश मालामाल हो जाएगा। दूध की नदियां बहेंगी। कहीं कोई भूखा-प्यासा नहीं रहेगा। सबको जीने का हक मिलेगा। किसको मिला है जीने का हक···?' काका का गला भर आया—'पटवारी ने डण्डे से मार-मारकर सबके सामने मल्ले घर हेतराम की हत्या कर दी ! किसने क्या कर लिया ?'

देवा चुप सुनता रहा।

'मेरा मन उचट गया है देवा ! सब जगह रेत-ही-रेत नज़र आ रही है—अंधेरा-ही-अंधेरा···!'

काका उठ ही रहे थे कि बाहर के किवाड़ की सांकल खड़की। रूपदेव पधान घबराए हुए, भीतर आए, 'हं हो, गंग 'दा, गजब हो गया !'

'क्या-क्या—?'

'देवदार के पेड़ों को चोरी से काटने के अपराध में पटवारी ने हमारे घना का नाम साक दिया है। अभी चपड़ासी आया था कागज लेकर। कहता था—घना को हौलात ले जाया जाएगा।' रूपदेव एक ही सांस में कह गए।

'पेड़ों का ठेका तो खीमसिंग थोकदार ने लिया था न !'

'हां, लिया तो उन्होंने ही था।'

'पटवारी, पतरोल, रेन्जर—सबके सामने पेड़ों पर छाप लगा दी थी न !'

'हां, गांव वाले भी थे सामने···।'

'फिर तुम्हारा घना बीच मे कैसे आ गया ?'

'थोकदार से गूल के पानी के मामले में, पिछले चैत में कुछ कहा-सुनी हो गई थी। हो सकता है, उसी ने पटवारी के कान भर दिए हों ! और घना को पकड़ाने की चाल चली हो !'

'जब तुम्हारे घनश्याम ने पेड़ काटे ही नही तो फिर कैसे पकड़कर ले जाएंगे उसे ? हम भेड़-बकरियां तो नही ! देखें तो, कैसे न्या नही होगा —सरकार-दरबार मे !'

पधान के साथ ही गांगि 'का भी लाठी टेककर बाहर की ओर बढ़े।

'पंखी-चादर साथ ले जा रहे हैं ! कका, कही बाहर-गाव जाना है क्या ?' देवा ने पूछा तो काका ने कोई उत्तर नही दिया।

चार

चार-पांच दिन तक भी काका घर नहीं लौटे तो सबको सहज ही चिन्ता हुई। आ तो शाम को ही जाना चाहिए था, किन्तु आज इतने दिन हो गए !

कही दूर तो नही चले गए—चालसी पट्टी की तरफ !

कहीं बीमार तो नहीं हो गए—पिछली बार भी ऐसा ही हुआ था। बाहर सर्दी मे निकलते ही गठिया-वात ने घेर लिया था। तब कन्धे पर जोक (लाद)कर किसी तरह ला पाए थे। पूरे तीन महीने बिस्तर पर मिड़गू की तरह पड़े रहे थे।

दुयारानी के घने जंगल मे बाघ का भी डर था। मेलिया-बाघ कभी-कभी बच्चों या बूढ़ो पर भी झपट पड़ता है।

काका कमजोर हैं। कही रास्ते मे ही टोप न दे दी हो ! पके फल को टपककर गिरने वक्त ही कितना लगता है !

कहीं किसी गहरे गधेरे मे, रात के अंधियारे मे गिर न पड़े हो ! नदी पार करते समय···

जितने मन, उतनी बातें !

जाड़ा शुरू हो चुका था। नदियों-तालाबों के किनारे का पानी जमने लगा था। सुबह सफेद पाले से धरती ढकी रहती। लगता—जैसे बारीक सफेद चीनी किसी ने बिखेर दी हो।

हवा चुभती लगती—तेज धार की तरह छीलती हुई।

देवा देवदार के जंगल वाली बटिया को दूर-दूर तक देख आया था। नदी के किनारे-किनारे भी। कहीं काका डूब पड़े होते तो लाश किसी किनारे पर तैरती तो मिलती ! आसपास के इलाके में भी कम पूछताछ नहीं की।

पर किसी दूसरी ही दुनिया में था, देवा का मन। उसे न जाने क्यों लगता था—काका भले ही कहीं हों, अब लौटकर घर नहीं आएंगे। घर में उस दिन जो कुछ बिजपात हुआ, उसे देखकर उनका चेहरा कितनी निराशा से भर उठा था ! उसके बाद काका को किसी ने न बच्चों के साथ खेलते देखा, और न किसी से बोलते ही पाया। प्रधान से भी उखड़ी-उखड़ी बातें की···

पिछले महीने एक दिन देवा ने देखा था—

काठ के भकार में से पुराने चरखे को निकाल कर वह साफ कर रहे हैं। यह चरखा उन्हें परमानन्द पण्डित ने दिया था कभी। लोग कहते हैं—कभी काका रोज सुबह ब्राह्म-मुहूर्त्त में उठकर चरखा कातते थे। रोज 'वैष्णव जन' वाली बापू की प्रार्थना दुहराया करते थे। मंगल के दिन मौन रखते थे। किन्तु खेतों पर काम करने के बाद उनका यह नेम-नियम शनैः-शनैः शिथिल हो गया था।

इतने अर्से बाद काका को चरखे के साथ देखकर उसे कम अचम्भा नहीं हुआ···

देवा उठा। भीतर जाकर उसने देखा—वह साफ किया चरखा अब तक भी उसी तरह रखा है। उसी के साथ काका के कुछ पुराने कपड़े भी हैं—एक छोटी-सी पोटली में !

देवा उसे खोलने से अपने को रोक न पाया। उसमें फटे-पुराने खादी के कपड़े थे। पीले, फटे कागजों का एक छोटा-सा पुलिन्दा भी। जिसमें

लिखे अक्षर अब इतने धुंधला गए थे कि पढ पाना भी सम्भव नही था। सबमे नीचे चरखे की छाप वाला पुराना तिरंगा भी तह करके रखा था—बड़े जतन से।

उन्हे वैसे ही समेटकर देवा बाहर निकल आया। कुछ और लोग भी ढूढने निकले थे, जो अब तक लौटे नही थे।

पट-आगन मे बाहर से आए कुछ मेहमान बैठे थे, तमाखू पीने के लिए। वे कह रहे थे—काका को उन्होने लोहाघाट देखा था कल। कच-हरी को जाने वाली ऊंची सड़क पर लाठी टेककर, हांफते-हांफते चढ़ रहे थे। कुछ परेशान-से लग रहे थे।

काका के लोहाघाट जाने वाली बात देवा की समझ मे नही आई। काका हद-से-हद धनकोट पहुच सकते थे, फिर लोहाघाट कैसे जा पहुंचे?

देवा भागता-भागता लोहाघाट पहुचा, परन्तु वहा काका न थे। तब तक जा चुके थे।

किसी ने बतलाया—काका का झगड़ा हो गया है। नौगाव के थोक-दार-जिमदारो ने मोहार-हरिजनों की जमीन दाब ली है। गौचर का रास्ता भी बन्द कर दिया है। अतः समस्या यह है कि उनके गाय-डगर चरने के लिए कहा जाए?

काका ने पचायत बैठाने की कोशिश की। कहते है, इस पर कृपाल सिंह थोकदार के आदमियो से कहा-सुनी हो गई। पटवारी-पेशकार भी थोकदारो का साथ देने लगे तो काका लोहाघाट की कचहरी मे सैप से कह आए हैं कि धनकोट के गरीबो की जमीन वापिस नही दी तो झगड़ा इस बार और बढ़ जाएगा। भले ही कुछ भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े वे न्या लेकर रहेंगे। अगर सरकार-दरबार मे न्या न मिला तो वे गजार देवता के थान मे जाएंगे, घात डालने…!

पांच

देवा धनकोट पहुंचा तो एक और ही नजारा दीखा वहां। काका उलेंचा के पेड़ के नीचे, कच्चे आंगन पर फटी चटाई विछाकर वैठे हैं। आसपास कुछ और लोग हैं। काका के दुर्बल पांवों पर पट्टियां बंधी हैं। लोग वतलाते हैं—अंधियारे में, शिविया के आंगन के आगे, कीचड़ पर पांव रपटने के कारण चोट आई है। नमक और कच्ची हल्दी का लेप लगाने से अव कुछ आराम है। सूजन भी कम हो गया है···।

'घर—चलो—कका!' देवा ने कहा।

काका उसकी ओर देखते रहे—देर तक। फिर किंचित सोचते हुए वोले, 'यह भी तो अपना ही घर है देवा! जव गांधि वावा के कहने पर जेल गए थे, तव हमने वरत लिया था कि सारा देश ही हमारा घर है। घर न वसाने की प्रतिज्यां भी तभी ली थी। एक ही जगह पड़ा-पड़ा पानी मैला हो जाता है। उसमें काई लग जाती है। मुझे लगता है, अधिक सांसारिक मोह-माया भी आदमी को अंधा वना देती है। किसी एक ही ठौर पर खूंटे की तरह वंधा रहना वैसे भी घातक है। फिर अव उमर ही कितनी रह गई देवा···!'

'लेकिन काका···!' देवा ने अधीर होकर कहा।

'लेकिन, क्या? अव तुम सयाने हो। नन्दू भी वच्चा नहीं। आपस में मेल-मिलाप से रहो। एक-दूसरे का सुख-दुख देखो। मतभेद भी होते हैं। जहां वहुत वर्तन होते हैं, आपस में टकराते भी हैं। किन्तु थैली का गुड़ थैली में ही तोड़ना चाहिए···! हमारे आनन्द की विधवा वहू अभागन है—वेसहारा। उसकी सहायता करो। घर-गृहस्थी की गाड़ी खींचो। दूसरों पर अधिक निर्भर रहने से आदमी लंगड़ा हो जाता है···।' काका वुद-वुदाते हुए वोले।

'नन्दू नादान है कका···उसकी वात का वुरा नहीं मानना चाहिए···।'

पांच

देवा धनकोट पहुंचा तो एक और ही नज़ारा दीखा वहां। काका उलेंचा के पेड़ के नीचे, कच्चे आंगन पर फटी चटाई बिछाकर बैठे हैं। आसपास कुछ और लोग हैं। काका के दुर्बल पांवों पर पट्टियां बंधी हैं। लोग बतलाते हैं—अंधियारे में, शिबिया के आंगन के आगे, कीचड़ पर पांव रपटने के कारण चोट आई है। नमक और कच्ची हल्दी का लेप लगाने से अब कुछ आराम है। सूजन भी कम हो गया है···।

'घर—चलो—कका !' देवा ने कहा।

पिटाई की—यह समाचार भी काका तक पहुंचाया। यह पहुंचाना भी न भूले कि काका ने जगुवा लोहार की जमीन छुड़ाने के लिए किसनसिंग से जो करजा लिया था, उसके लिए काका की जमीन की दिन-दहाड़े कुड़की कराई जाएगी···।

काका अब दिन में एक ही बार भोजन करते।

तीस जनवरी को उन्होंने पूरे दिन जल तक ग्रहण नहीं किया।

शाम को आसपास के बच्चों, बूढ़ों को पास बिठाकर बोले—

'अब तक मैं समझता था, सुराज आ गया, गांधि बाबा का सुराज! अपने लोगों का राज! पर अब लगने लगा है, सुराज नहीं आया, और न फिलहाल आने ही वाला है। यह पटवारी का राज है। थोकदार-जिमदारों का! गरीब के लिए, लाचार के लिए यहां कहीं कोई जगह मुझे नहीं दीखती···। फसल कोई बो रहा है, काटता कोई और है। मेहनत हम करते हैं—मालिक कोई और है···। जिनके पास खेत नहीं, कोई और काम धन्धा नहीं, वे कहां जाएं? पेट पालने के लिए माल जाते हैं—तराई-भाभर, तो कम जुलम नहीं होते। काम के बदले पूरी मजदूरी नहीं मिलती। बहू बेटियों के साथ क्या-क्या नहीं होता!

'मैं जब सारी बातें सोचता हूं। देखता हूं कि दोष उनका ही नहीं, आप-हम— सबका है। यदि हम इसी तरह अपने को सताए जाने देंगे, तो वे सताते रहेंगे। बेकर-मजदूरी भी हमें पूरी-पूरी नहीं मिलेगी। पदिया लोहार की ज्वान-जवान बेटी को बस का देसी डराईभर क्यों बरेली भगा ले गया? अब तक सांवलिया की लाश का पता क्यों नहीं चला? दस रुपया करज के बदले भौंनाराम क्यों बुधानन्द मास्टर के खेतों में जिन्दगी-भर हल चलाता रहा? मरने पर बुधानन्द ने उसे कफन तक क्यों नहीं दिया?'

काका की बातें सबकी समझ में नहीं आतीं, पर इतना भर अवश्य लगता कि काका जो भी कहते हैं, भले के लिए।

वर्षों तक सोए सीधे-सादे काका में यह परिवर्तन कहां से आया? कैसे आया? किसी की समझ में नहीं आ रहा था।

जिन्दगी भर वह परमानन्द पण्डित का झोला थामे, पीछे-पीछे लगे

रहे—गूंगे पशु की तरह—लुड़-लुड़। दुबले-पतले मरियल से, दिन-रात मिट्टी में सने रहने वाले काका के आखर सुनकर लोगों की आंखें खुली-की-खुली रह जातीं !

काका जब बोलते तो उनके मुंह से चिंगारियां-जैसी निकलने लगतीं !

रात को गरीबों के बच्चों को पास बुलाकर काका बारह खड़ी और वरनमाला के अक्षर काठ की काली पाठियों पर लिखकर सिखलाते। पढ़ने-लिखने से ही गियान आएगा। और गियान से ही शक्ति !

जिन बच्चों के पास कागज़-पेंसिलें न होतीं, पाठशाला की फीस नहीं —काका उनके लिए भीख मांग-मांग कर पैसे जुटाते।

जब इलाके के अधिकांश लोग जाड़ों में दो रोटी का जुगाड़ करने, धूप तापने, माल-भाभर की तरफ उतर जाते तो घरों की रखवाली के लिए रह गए असहाय वृद्धों, दुर्बल बच्चों और लाचार महिलाओं की देख-रेख काका घर-घर जाकर करते। कई बार तो भयंकर शीत से ठिठुरकर मरने वाले किसी अभागे वृद्ध की लाश उठाना भी एक समस्या बन जाती थी। पर काका के जीते-जी कोई अनाथ कैसे रहता ?

आठ

पूस आधा भी बीता न था।

इधर तीन-चार दिन से लगातार बर्फ गिर रही थी। रास्ते, पेड़-पौधे, खेत-खलिहान, छत-आंगन सब बर्फ की सफेद चादर से ढके थे। इस साल पूस में हियां ज्यादा हुई, इसलिए लोगों का अनुमान था कि गियां (गेहूं) की फसल अच्छी होगी।

भीगी मुड़ी हुई रस्सी की तरह बल खाती, संकरी पगडण्डी पर, बर्फ में अपने को धंसने से बचाती हुई एक क्षीण छाया-सी गांव की तरफ आ रही थी।

सूरज डूब चुका था। पहाड़ों की चोटियों से घना कुहासा फिसलता

हुआ, नीचे अंधेरी घाटियों की ओर खिसक रहा था। ठिठुरते गाँव, पत्र-हीन ठूठ वृक्ष—दूर कहीं आसमान से घुल-मिल गई हिम से ढकी चमकती चोटियों के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं दीखता था।

पहाड़ों मे वैसे ही सूरज कम दीखता है, उस पर जाड़ों में तो और भी कम—और भी ठण्डा। बुझा-बुझा-सा।

लोग किवाड़ बन्द किए घरों में दुबके बैठे थे, आग के सहारे। इने-गिने कुछ घरों के ऊपर धुआँ-सा घिरता दीख रहा था। इसी से मालूम होता कि सम्भवतः इनमें कोई प्राणी रहते हैं। कहीं कोई प्रकाश नहीं—अंधेरा-ही-अंधेरा।

'टिक्-टिक्' द्वार के मोटे घुनखाए द्वार पर जभी आहट हुई तो भीतर की किसी गुफा से भयभरा क्षीण स्वर गूंजा, 'कौन...?'

'मैं—!' सनसनाती हुई-सी तेज सरसराहट के कारण स्पष्ट कुछ सुनाई नहीं दे रहा था।

दरवाजे के आर-पार लगा काठ का 'आड़ा' हटाते ही वह पीछे हट गई, 'ससुर ज्यू आप—!' फटी पिछौड़ी का आंचल उसने कुछ और लम्बा कर लिया, संकोच में। तन पर टंगे चीथड़ों में लाज ढकना उसे कठिन लग रहा था।

'बहू—!' कपड़ों पर जमी बर्फ को गर्द की तरह झाड़ते हुए वह भीतर चाक-बरामदे पर खड़े हो गए। टूटे शिलापट के कूनों से पानी निथर रहा था। सारा शरीर ठण्ड से थुर-थुर काँप रहा था। सांस छोड़ते ही मुंह से ढेर सारी भाप बिखर रही थी।

'पिपलाटी जाते-जाते खियाल आया, बच्चों की कुशल-बात भी पूछ लूं!'

सामने ही रौंड में आग जल रही थी। उसी के पास फटी बोरी का अधजला टुकड़ा डाल दिया।

तनिक दूरी पर बड़ी बहू अब तक सहमी-सहमी-सी खड़ी थी।

'माल-भाभर जाते वक्त नन्दू बतला गया था कि घर के बांट-बट-वारे हो गए हैं!' वह बोरी पर बैठते हुए बोले।

'हां, छोटी ने जिद की तो वे बिचारे भी क्या करते?'

'ना'—! बड़ी बहू सिसककर रो पड़ी।

'ऐसे हिरदयहीन खबीस निकलेंगे ये, ऐसा तो मैंने कभी सोचा भी न था।' काका जैसे कराह उठे, 'मैं दुनिया-भर में न्या के लिए झगड़ता फिरता हू, और मेरे अपने ही घर में ऐसा अंधेर!' काका की धुधली, बुझी आंखों में रक्त छलक आया।

'माल-भाभर से उन्हें आने दे, मैं सारा बंटवारा फिर कराऊगा। भाभी मा के बराबर होती है। इतने जर्ने होकर एक तुझे नही पाल सकते?' गागि 'दा से फिर रोटी निगली न गई। वैसे ही हाथ धोकर मुह पोंछकर वह आग के पास बैठ गए।

'तू चिन्ता न कर। जब नक मैं जिन्दा हू, तुझे गास-टुकड़े का अभाव नही रहेगा। सरकार की तरफ से मुझे जो पिनशन मिलती है, उसे तेरे नाम करवा दूंगा—तेरे नोन-तेल का बनोबस्त हो जाएगा...हमारा आनन्द कहता था—कका, इस चैत में दो कमरे और डलवा दूगा। एक आपके पूजा-पाठ के काम आएगा, दूसरा मिहमानों के लिए...! पापी, खुद ही भाग निकला हम सबको मंझधार में डुबोकर...!' काका की बूढ़ी आखों के आगे ठण्डा कुहासा-सा घिर आया।

नौ

'कका के बचने के आसार कम है।'

किसी ने एक दिन गाव आकर बतलाया।

किसी जरूरी काम से काका को माल-भाभर जाना पड़ा—वही जर-बुखार शुरू हो गया। एक तो वैसे ही दुबले-पतले हड्डियों के ढाचे, उस पर बीमारी!

बिस्तर पर काका ऐसे गिरे कि फिर महीनों तक उठ न पाए।

साधनहीन होते हुए भी गागि 'दा हर तरह से सम्पन्न थे। अण्टी में धेला-टका कुछ भी न होने के बावजूद काम अटकता न था। जहां भी

जाते, सब श्रद्धा से देखते। इसलिए बीमारी की इस हालत में भी टहल में किसी ने कोई कोर-कसर नहीं रखी।

एक महीने बाद जब मूंग के पानी का पथ खाया, तो मानसिंग वैद किसी तरह उन्हें उठाकर बनबसा ले आया। मानसिंग का पूरा परिवार गांगि'का की सेवा में दिन-रात जुटा रहा। कहा जाता है कि गांगि'का और मानसिंग वैद के पिता दोनों मित-भाई थे कभी।

काका जब कुछ चलने-फिरने लायक हो गए तो उनके प्राण पहाड़ के लिए खिचने लगे। धनकोट का मुंहनियां गाय-बछियों के लाने माल गया था। अपने भोटिया घोड़े पर बिठाकर वह काका को घर ले आया।

अब तक काका का शरीर भाभर में था, किन्तु परान बार-बार उड़ कर फिर कहीं भटकता रहता। बीमारी की हालत में ही उन्होंने सुन लिया था कि धनकोट वालों से फिर जिमदारों का मनमुटाव हो गया है। इस बार रार बेनाप ज़मीन की वजह से शुरू हुआ है। धुनी धार के जंगल लोहारों ने आबाद किए। जाड़ों में गड्ढे खोदकर, खाद डालकर सेब और तुमड़िया नाशपाती के पौधे लगाए। ढलवां ज़मीन को चौरस बनाया। सीढ़ीनुमा खेतों में बदला और सब जिमदारों का कहना है कि वह ज़मीन उनके खेतों के निकट है। इसलिए पहला हक उनका है।

रात के समय उन्होंने अपने गाय-डंगर छोड़कर, सारे पौधे जड़ से साफ करवा दिए। काका ने अन्त में जब यह सुना तो तड़प उठे।

मरते-जीते किसी तरह जब वह धनकोट पहुंचे तो सब झपाझप उनके चारों ओर घिर आए। उन्हें अपने बीच देखते ही सब के मड़छाई पड़े बुझे चेहरों पर नई चमक उभर आई। 'कका आ गए', 'कका आ गए'—गांव-भर में खुशी की लहर छा गई।

किसनी की बूढ़ी दादी हाथों से रास्ता मसार-मसार कर किसी तरह आंगन तक आई, 'आपके लिए स्योनरा भाई के थान में सवा का पाठ भाख रखा है—कका बचकर आ गए तो फटकशिला में दर्से के मेले के वखत लाल धज चढ़ाएंगे। हमारी खिमली कहती थी। मरते समय हमारा जोगिया 'कका' 'कका' कहता रहा...।' वृद्धा की धुंधली पलकों पर आंसुओं का झालर लटक आया।

'तल्ले पर किन्ना ने पढ़ना छोड़ दिया…!' उमिया दर्जी के मझले बेटे दलीप ने तुतलाकर कहा।

काका ने उसे गोद पर बिठला कर चूम लिया।

'कका, हमारे यहा सब कहते हैं …।' ससुराल से मैके आई बिरली कहती-कहती अटक गई।

'क्या कहते है…?'

'गागि 'का बामन होकर भी लोहारो के साथ रहते हैं…!'

काका बच्चो की-सी निश्छल हसी मे हस पड़े, 'कहने दे। लोहार क्या मानुस नही होते रे?'

किस तरह से धूरा मे लगाए पौधे जड से उखाड दिए, किस तरह से सारे जिमदार लाठी उठाकर मारने आए—काका ने यह सुना तो देर तक कही गहरे मे डूबकर सोचते रहे।

तन मे अब इतनी शक्ति नही थी कि भाग-दौड कर सकें। कही आ-जा सकें। किन्तु खाली हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना भी उनके लिए संभव न था। अतः सरकार-दरबार मे उन्होंने दरखास्त दे दी—

—लोहारों ने जो जमीन आबाद की, वह बेनाप की थी—सरकार की। जगल को साफ करके पहले-पहल खेती लोहारो ने की। इसलिए पहला हक इन्ही गरीबो का होना चाहिए। इनके पास दो हाथ अपनी जमीन भी नही। दूसरो के खेतो मे काम करके गुजारा चलाते हैं। थोक-दार-जिमदार हर तरह से समर्थ हैं—कचहरी-कोरट जा सकते हैं, पर इन बेचारो के पास पैसा कहा! दिन भर हाड तोडने के बाद भी दो जून रूखी रोटी नही जुट पाती। ये गूगे अपनी फरियाद लेकर कहां जाएं?

परन्तु सरकार-दरबार के पास दिल कहा, जो इनकी बातो पर रहम किया जाता! अतः अन्त मे जो होना था, होकर रहा। मामला लोहाघाट की कचहरी मे चला गया।

दिन मे ही काका को अधियारा दिखलाई देने लगा।

ज्यो ही चलने-फिरने की कुछ शक्ति शरीर मे आई, घिघारू की लाठी टेक कर गांव-गाव घूमने लगे।

धेला-टका जो भी चन्दे मे मिलता, झोली मे जमा कर रहे थे। कचैरी

के काम आएगा ।

चन्दे के ही सिलसिले में काका एक बार फिर गांव आए थे ।

बड़ी बहू के तन पर, लाज ढकने के लिए पूरे चीथड़े तक नहीं थे, इस बार । किसी ने बतलाया—जो भी बचा-खुचा इसके पास था, नन्दू ने वह सब भी छीन-झपट लिया है । बड़ी बहू ने प्रतिरोध किया तो निठोर गाय हांकने वाली लोद की लाठी से बुशेमार मारने लगा । लोग बीच-बचाव नहीं करते तो जाने क्या हो पड़ता !···बड़ी बहू को दूसरों के खेतों में मिहनत-मजूरी करके भी एक बखत की रोटी नसीब नहीं हो पा रही है । कभी-कभी थोड़ी-बहुत सहायता देवा न करता तो न जाने कब की फांसी लगा कर मर चुकी होती···!

गांगि 'का को आंगन में खड़ा देखते ही बड़ी बहू मैली गठरी की तरह उनके पांवों पर गिर पड़ी ।

हतप्रभ-से देखते रह गए काका—इन कुछ ही महीनों में सूखकर घिघारू का कांटा मात्र रह गई है ! आंखें बुझी-बुझी । चेहरे पर काली-काली झांइयां !

'हं ब्वारी, यह क्या ?' काका ने विस्मय से पूछा ।

प्रत्युत्तर में बड़ी बहू बुरी तरह फट पड़ी—सिसक-सिसक कर ।

'अपनी पिनशन के रुपए भिजवाए थे । नहीं मिले क्या···?'

काका ने नन्दू को बुलाया, 'मेरे जीते-जी नदिया, बहू इस तरह अनाथ हो गई तो मेरे मरने के बाद क्या नहीं होगा ?' काका का स्वर भीग आया । आक्रोश-भरी लड़खड़ाती आवाज़ में बोले, 'कहां तो दुखियारी को सबसे बड़ा भाग देते, कहां इसका ही हक तुम लोगों ने गिद्धों की तरह झपट लिया है । अपने ही घर में ऐसा अनर्थ करके कहां जाओगे ?··· किसी नरक में भी ठौर न मिलेगी । इसके लिए पिनशन के कुछ रुपए भिजवाए थे, वे भी तुमने हड़प लिए···!'

इतने में खेतों से देवा आ गया—कन्धे पर कसी-कुदाली रखे ।

'देवा', काका ने उसे रोकते हुए बड़ी वेदना से कहा, 'अगर आज तुम्हारी मां होती तो क्या उसे सड़क पर भीख मांगने के लिए छोड़ देते ? यदि कल मेरे बूढ़े हाथ-पांव न चल सकें तो क्या मेरी परवरिश नहीं

करोगे ? अगर तुम्हारी कोई बहन होती, अभागन विधवा हो जाती तो क्या उसके साथ ऐसा ही निठोर व्यवहार करते ? हमारा आनन्द आज जिन्दा होता और किसी पर ऐसी बीतती न जाने क्या-क्या नहीं कर डालता ? अभागे ने खुद न पढ़कर तुम्हे पढ़ाया। दो आख वाला बनाया और तुम लोगो ने इस अभागन की ऐसी दुरगत कर दी ! यह दो-दो दिन तक भूखी रहे और तुम इसी के सामने बैठकर चौके मे रोटी कैसे निगल लेते हो ? सचमुच तुम राकस हो, राकस···!' काका बच्चों की तरह रो पड़े।

उस रात खाना भी घर मे उन्होने नही खाया। पानी भी नही पिया।

'जिस घर मे ऐसा जुलम होता है, उस घर का अन्न-जल मैं कैसे ले सकता हू ?' काका ने कहा और उठकर चले गए।

अपनी जिन्दगी मे काका इतने हताश कभी नही दीखे थे। तन-मन से अपने को इतना अशक्त, असहाय अनुभव कर रहे थे कि उनसे चला भी नही जा सकता था।

दस

काका को धनकोट पहुचे अभी पाचवा ही दिन था कि उन्होने देखा—द्वार पर उदास-सा देवा खड़ा है।

'कब आए ?'

'अभी।'

'घर मे कुसल-बात सब ठीक है न !' इस रूप-रग मे इस तरह घबराए खड़े देवा की ओर देखते ही, काका ने सहज ही प्रश्न किया।

'हा, सब ठीक है···।' पास ही पड़े फटे फौने के टुकड़े पर देवा गुमसुम-सा चुपचाप बैठ गया।

काका के आसपास कुछ और लोग भी घिरे थे। बेनाप जमीन के प्रश्न पर गम्भीर वार्ता हो रही थी। मुकदमे की तारीख नज़दीक थी।

बैठे-बैठे जब सांझ ढलने लगी, तब देवा ने नही रहा गया। काका को

तनिक एकान्त में, झोंपड़ी के पिछवाड़े ले जाकर बोला, 'गजब हो गया कका···!'

'क्या ? क्या ?'

'ठुल बोज्यू ने कल रात दुल्ल के पेड़ पर लटक कर फांसी खा ली है। ···किसी अपने रिश्तेदार के ब्याह में पटवारी चल्यी गया है। कल सुबह तक लौटेगा···। लाश अब तक लटक रही है···!'

काका की आंखें खुली-की-खुली रह गईं।

फिर किसी तरह अपने को संयत, सन्तुलित कर बोले, 'यह सब भी एक दिन होगा देवा, मैं जानता था···जानता था···।' इत्ता कहते हुए काका वहीं जमीन पर बैठ गए, कपाल पर हाथ धर कर।

देर तक वह आंखें मींचे बैठे रहे।

'तहकीकात के लिए कोई आया—?' सन्नाटा तोड़ते हुए उन्होंने ऊपर देखा।

'अभी तक तो नहीं···।'

'जब तक पटवारी नहीं लौटता, हो भी क्या सकता है ?' काका ने बुदबुदाते हुए ऐसे कहा, जैसे स्वयं को सुनाकर कह रहे हों।

'लाश अभी तक भी उसी तरह है···!' विवश भाव से देवा बोला।

रात के सघन अन्धकार में काका के लिए रास्ता देख पाना सम्भव नहीं था। फिर भी मरते-जीते···किसी तरह गांव तो जाना ही था। चीड़ के छिक्कलों को जोड़कर रांकी जलाई। उसी के धुंधले प्रकाश में, ऊबड़-खाबड़, कच्चे रास्ते को टटोलते हुए, किसी तरह आधी रात के समय गांव पहुंच ही गए।

लाश के पास आग जलाकर गांव के सभी लोग सारी रात 'पोरा' कर रहे थे। किसी भी समय पटवारी धमक सकता था।

चारों ओर दहशत का वातावरण था—घोर आतंक था। पता नहीं पटवारी तहकीकात में क्या-क्या लिख ले जाएगा ! पता नहीं किस-किस को दोषी ठहरा कर जेल की सजा दिलाएगा ! गांव में कैसी तबाही होगी ? कैसी बर्बादी ? इस तरह की मृत्यु का अर्थ था, सारे गांव का सर्वनाश !

काका के पहुंचने पर सबको धीरज बंधा कि पटवारी अब अधिक तंग

नहीं कर पाएगा। काका सज्जन थे। कोई उनके सामने ऐसा-वैसा करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता था।

पर यहां सबसे अधिक परेशान था—पधान। देवदार के पेड़ों की चोरी में की गई कटाई के प्रश्न पर पुत्र पहले ही गले-गले तक फंसा हुआ था। अब सामने खड़ी, यह नई मुसीबत क्या करवट लेगी—कहना कठिन था।

पटवारी के बदचलन होने से सब और भी अधिक आतंकित थे। गांव में पटवारी-पुलिस का आना वैसे भी अशुभकारी माना जाता है। पर इसे देखते ही सबके प्राण सामने में पड़ जाते हैं—इसके बारे में प्रचलित था कि यह घूस खाता है। देसी ठर्रा भी जमकर पीता है। इसके अलावा लंगोट का भी कच्चा है···।

—काका, अब क्या करें? पीताम्बर दत्त हताश होकर बोला।

—गांव उजड़ गया काका! टिकाराम ने आह भरते हुए कहा।

बड़ी बहू का दुखियारा भाई अभी-अभी घर से आया था। बांज के पेड़ के नीचे बैठा चुपचाप रो रहा था।

नन्दू की बहू घर से बाहर नहीं निकल रही थी। नन्दू भीड़ की निगाहों से बचने की कोशिश कर रहा था।

अभी पौ भी नहीं फटा था कि लोगों ने विस्मय से देखा—धरमसिंग पटवारी, अपने सटवारी हीरावल्लभ के साथ यमदूत की तरह सामने खड़ा है। झोले से हथकड़ी की रस्सी बाहर झांक रही है। सटवारी के कन्धे पर दुनाली बन्दूक रखी है। गले पर लाल-लाल कारतूसों की माला!

पटवारी का बिस्तरबन्द सिर पर रखे पतिया स्यांला पीछे खड़ा है।

अपने दाहिने हाथ में पटवारी एक मोटा-सा चिकना डण्डा हवा में घुमा रहा है। जिसकी मूठ पर काला चमड़ा कसा हुआ है।

पटवारी को देखते ही सब चौकन्ने होकर उठ खड़े हो गए—चारों ओर से घिर कर।

'खून कब हुआ···?'

पधान भीड़ को चीरकर, कांपता-कांपता, हाथ जोड़ता हुआ सामने आ खड़ा हुआ, 'सरकार माई-बाप···परसों रात···दो घड़ी रात गए···।'

बड़े रहस्यमय ढंग से पटवारी ने होंठ भींचे। डण्डा कुछ और जोर-से गोलाई में घुमाता हुआ, शाख पर झूलती लाश को देखता रहा।

चारों ओर श्मशान का जैसा असह्य सन्नाटा था।

सब आंखें फाड़े, मुंह खोले पटवारी की ओर देख रहे थे—देखें, पटवारिज्यू अब क्या कहते हैं ?

'कपड़े फटे हैं—तार-तार! पांवों पर भी खरोंच है। लगता है, गले पर फन्दा डालकर लटकाने में हरामजादों को बड़ी मेहनत करनी पड़ी है।'

'हजूर सैप, ऐसा नहीं···।' जोधसिंह ने हाथ जोड़ते हुए विनम्र वाणी में कहा, 'यह तो मुंला, खुद ही झूल गई थी—ना-समझ! जिन्दगी से परेशान थी···।'

जोधसिंह की बात अभी पूरी भी न हो पाई थी कि पटवारी ने आव देखा, न ताव! ठलम्-से डण्डे की भारी चोट उसके नंगे सिर पर दे मारी।

जोधसिंह 'उ इजा' कहता हुआ, सिर दबाता हुआ, वहीं पर, वैसा ही बैठ गया। उसकी आंखों के आगे तारे झिलमिलाने लगे थे।

'गले पर नाखूनों के जैसे निशान हैं! लगता है जमकर छीना-झपटी हुई है···!' पटवारी लाश को निकट से झांकता हुआ बुदबुदाता रहा।

सब ऊपर की सांस ऊपर, नीचे की नीचे रोके खड़े थे।

'रस्सी काटकर लाश नीचे गिरा दो···!' पटवारी ने भीड़ को सम्बोधित करते हुए कड़ककर आदेश दिया।

रूपराम गोली की तरह दौड़ता हुआ देवा के घर में घुसा और बड़ियाठ उठा लाया।

रस्सी काटकर लाश को बड़े जतन से पकड़कर, कच्ची जमीन पर लिटा दिया—घास के ऊपर।

शिकारी कुत्ते की तरह पटवारी अब चारों ओर घूम-घूमकर लाश का निरीक्षण करने लगा। 'कपड़ा हटाओ', 'लाश उल्टी करो', 'अब यों सीधा करो', 'यों-यों इस तरह से'—अनेक आदेश वह देता चला गया।

इस बीच उसने सिगरेट सुलगा ली थी। बड़े रहस्यमय अन्दाज़ में आंखें मूंदकर, बड़े संयत तरीके से सिगरेट का धुआं छोड़ रहा था। सहसा

उसने आँखें खोली, 'लगता है कि इस बेचारी के साथ कमीने कुत्तों ने बड़ी बेरहमी से बदफेली की और बाद में लाश को पेड़ पर लटका दिया !'

'राम-राम', 'शिव-शिव', कहते हुए मनिराम पण्डित ने आसमान की ओर हाथ जोड़ दिए, 'परमेसर के लिए ऐसा मत कहिए ठाकुर सैप ! हमारे गाँव के लोग गरीब जरूर हैं, बदचलन नहीं। फिर यह तो छातछात देवी थी। आँख उठाकर भी कभी इसने किसी की तरफ नहीं देखा।'

उसकी बात पर पटवारी एकाएक ताव खा बैठा। बोला, 'चोप्प ! साला पाखण्डी !' पटवारी ने डण्डे से उसे जोर से कोंचा, 'साल्ला, बड़े शरीफों का गाँव बतलाता है इसे ! औरत हवा में झूल रही है, इसी से पता चल जाता है कि इस गाँव में कैसे-कैसे 'सन्त' रहते हैं…!'

पीछे बैठे गागि 'का तभी आगे आए। उन्होंने बीच-बचाव करके सबको शान्त किया।

पधान के घर से पटवारी के लिए काँसे के लोटे में गरम-गरम 'चा' आ गई।

पीतल के भारी गिलास में उड़ेलकर पटवारी गरम चाय को फूंककर होंठों से किंचित छुआकर पीने का प्रयास करता रहा। 'जर-जमीन के मामले में किसी से लाग तो नहीं ?' बोला।

सबने 'नहीं' की मुद्रा में मौन-भाव से सिर हिला दिए।

'किसी से झगड़ा-फसाद—?'

'न-हीं।'

'तो क्या साली पागल थी, जो यों ही पेड़ पर लटक गई ?' पटवारी ने अपने भड़कते हुए आक्रोश को तनिक संयत करते हुए कहा।

'पंचायतनामा करके लाश फूंक दो—तियानी में—!' गागि 'का सम्बा मौन तोड़ते हुए बोले।

'पण्डित 'का, आप दाने-सयाने हैं…बुजुर्ग। किसी तस्तीकाद किए बिना लाश को जलाना ठीक नहीं। कल कोई भी बात उठ सकती है। आप यह क्यों भूल जाते हैं कि यह हत्या या आत्महत्या का मामला है।'

काका कहना चाहते थे, यह हत्या या आत्महत्या का नहीं, पापी पेट के लिए दो टुकड़े न जुट पाने के कारण सिर्फ भूख से मौत का मामला है।

किन्तु थोड़ी देर सोचते रहने के पश्चात् बड़े कष्ट से बोले, 'पटवारिज्यू, जब तक यह अभागन जिन्दा रही, दुख उठाती रही, पर मरने के बाद भी इसकी मिट्टी खराब हो रही है ! कहां क्रिया-कर्म ! कहां तरपन, सराद !'

'कानून का पेट तो भरना ही पड़ेगा, पण्डित 'का ! आप बीच में बोलेंगे तो मुझे तहकीकात में कठिनाई होगी। भला इसी में है कि आप चुप रहिए और पुलिस को अपना काम करने दीजिए'''।'

दोपहर तक स्थिति अनिश्चित रही। पटवारी की अण्टी अच्छी तरह गरम हो जाती तो झमेला नहीं बढ़ता। अन्त में निश्चय हुआ कि चीर-फाड़ के लिए लाश को लोहाघाट के अस्पताल में ले जाना होगा। अब अधिक देर करना ठीक नहीं। लाश सड़ रही है। बदबू के मारे पास बैठ पाना भी कठिन हो रहा है।

पटवारी का आदेश सर्वोच्च न्यायालय के आदेश से कम नहीं था। अतः गांव के लोगों ने मोटी चादर में लाश को लपेटा। उसे एक मोटे-मजबूत लट्ठे से बांधा। आगे-पीछे एक-एक आदमी लगाकर लाश कन्धे पर जोक ले गए—लोहाघाट की ओर।

ग्यारह

चीर-फाड़ के बाद डाक्टरों ने हत्या नहीं, आत्महत्या की ही सम्भावनाएं अधिक बतलाईं। और क्षत-विक्षत लाश सगे-सम्बन्धियों को सौंप दी।

रिखेसर में ही सदगति करके जब सब गांव लौटे तो वहां और नई समस्या उठ खड़ी हुई।

पटवारी ने सारी पड़ताल नये सिरे से शुरू कर दी थी। वह बात को जड़ से पकड़ना चाहता था—

विधवा दिवंगता का पति आनन्द इत्ती कम उमर में कैसे मरा ? क्यों मरा ?

सबसे अधिक तूल पटवारी ने इसी प्रश्न पर दिया। विस्तार से यह

भी पूछताछ की कि उससे या उसके परिवार से किसी का पुराना-पुश्तैनी बैर तो नहीं था ?

किसी ने बतला दिया—सदानन्द के ठुल 'दा की कका के परिवार से लगती थी। उसने एक बार कका को किसी मामले में लपेटने की भी कोशिश की थी। टाल (इल्जाम) लगाया था कि उन्होंने किसी औरत को बेचने की कोशिश की थी।

इतना सुनना भर था कि पटवारी चुटकी बजाता हुआ उछल पड़ा—'राज की बात अब आई न सामने ! ह, हो पधानज्यू, आप क्या कहते हैं ?'

पधान बेचारा क्या कहता !

रातोरात सदानन्द को देवीधूरा से घसीटकर लाया गया।

कच्ची ज़मीन पर डण्डा पटकते हुए पटवारी ने कहा, 'तो तुम लोगों का पुराना बैर था, माशि 'का के परिवार से ?'

हाथ जोड़कर सदानन्द खड़ा हो गया—कांपता-कांपता, 'माई-बाप माशि 'का तो छाच्छात देवता हैं—भले मानुस ! उनसे किसका बैर होगा ?'

'सुना है, तुम लोगों ने इन पर 'टाल' लगाने की कोशिश की थी···!'

'यह तो सर्कार बीत-बीत पुरानी बात है। ठुल 'दा जब जिन्दा थे, तब सुना था एक बार थोड़ी-बहुत कहा-सुनी हो गई थी। बाद में तीसरे ही दिन सुलह-सफाई भी···।'

'गुस्से में सुना है, तुम्हारे ठुल 'दा ने यहां तक कहा था कि हम बदला लेकर रहेंगे···!'

'हुजूर, बोल-चाल के बखत मुंह से निकल पड़ा होगा। इस बात को अब पच्चीस-छब्बीस साल हो गए हैं।'

पटवारी ने तड़ाम से एक डण्डा कसकर उसकी कमर पर जमाया, 'कुतिया के ढण्ट ! बदला तो सौ साल में भी लिया जा सकता है ! क्या यह नहीं हो सकता कि आनन्द की मौत में तुम्हारा भी हाथ हो। हो सकता है कि छिपे तौर पर तुम लोगों ने उसे धमकाया हो। और दहशत के मारे उसके प्राण निकल गए हों। सुना है रात को बिस्तर पर वह मरा हुआ पाया गया था। बाद में उसकी विधवा को भी तुम लोगों ने मिलकर खूब दुरगत की हो—क्या यह नहीं हो सकता···?' पटवारी ने पच्च्-से ज़मीन

थूकते हुए, अजीब कड़ुवा-सा मुंह बनाया, 'खबीसों की औलाद हो तुम सब ! देवीधूरा में भी तो तुम लोगों ने भेदुवा डाक्टर को जूते से पीटा है अभी !'

सटवारी की ओर मुड़कर बोला, 'इस सुंगर के बीज को हथकड़ी लगाकर नीचे गाय-डंगरों के गोठ में बन्द कर दो। असली हत्यारा यही है।'

पूरे हफ्ते-भर से भी ज़्यादा दिनों तक सारे गांव वालों की इसी तरह, एक-एक कर धुनाई होती रही। हत्या और जुर्म के अपराध कई सिरों पर मढ़े जाते रहे।

जब तक पटवारी की दोनों जेबें भली-भांति ऊपर तक गरम नहीं हो गईं, वह लोगों को चूटता-पीटता चला गया।

गांगि 'का से रहा नहीं गया। ज्यों ही क्रिया-कर्म का काम समाप्त हुआ, वह सीधे पटवारी के डेरे में जा धमके। बोले, 'अब भी कोई और जुलम करना बाकी है सरकार ?'

'पण्डित 'का, यह क्या कह रहे हैं ?' 'हैं-हैं' करता हुआ पटवारी उनके और पास सरक आया, 'कका, यह क्या ? आप तो पितर तुल्य हैं···!'

काका खून का घूंट पीकर रह गए। हांफते हुए बोले, एक गहरी सांस लेते हुए, 'भगवान ने मेरे साथ यही तो जुलम किया है—हूं हो धरमसिंग—यही पाप ! काश, मैं राकस होता, राकस हो पाता और तुम्हें यहीं फाड़कर खा जाता···!' काका के होंठ फड़क रहे थे। धधकती हुई आंखें बुरी तरह जल रही थीं।

भीतर उमड़ता हुआ आक्रोश दबाते हुए बोले, 'तुम यहां से अभी चले जाओ, इसी वक्त ! नहीं तो कोई विचपात हो पड़ेगा। मैं नहीं चाहता लोग···।'

उनका यह रौद्र रूप देखकर पटवारी की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई थी। नीचे की सांस नीचे !

'तुम में कुछ भी इन्सानियत होती तो ऐसा जुलम न करते। तुम्हारे घर में बहू-बेटियां नहीं···?'

हिकारत से देखते हुए काका चले आए।

—इन्हीं भेड़ियों के हाथ में राज सौंपने के लिए हम जेल गए थे! अपना सब कुछ गंवाया था—यही दिन देखने के लिए!

हताश होकर काका बिस्तर पर ऐसे गिरे कि फिर दिनों तक उठ न पाए।

बारह

'ठुल बोज्यू की अस्थियां हरदुआर ले जाएं?' डरते-डरते देवा ने पूछा।

काका मौन-भाव से देखते रहे।

'सुना, ठुल बोज्यू मरने से पहले लछमन की काकी से कह रही थीं…।'

'मुझे सब मालूम है देबु!' काका तड़पकर बोले, 'सब मालूम। रत्ती-रत्ती, पाई-पाई! जब तक अभागन जिन्दा रही, तुम लोग सताते रहे। एक ग्रास रूखी रोटी के लिए भी किसी ने भूलकर नहीं पूछा। नदिया ने उस बिचारी पर हाथ उठाया। ऐसी अंधेरी कोठरी उसके भाग में दी, जिसमें जानवर भी नहीं रह सकते। इतनी बड़ी दुनिया में अगर किसी का भी आसरा होता तो वह ऐसे मरती…? अब तुम कहते हो, उसकी अस्थियां हरद्वार में बहाएं! ये नदी-नाले क्या कम पवित्तर हैं? इन्हीं का जल बहकर तो जाता है हरद्वार!…फिर वहां उसकी हड्डियां ले जाने से क्या मोक्ष मिल जाएगा उसे? जिस दिन गले पर उसे रस्सी बांधनी पड़ी, उसी दिन दिला दिया तुमने मोक्ष…! इन मुर्दा हड्डियों को यहीं कहीं नदी में डाल आओ। मिट्टी में अब…क्या रखा है…!'

विराग भाव से काका देखते रहे, 'आदमी से बड़ा खतरनाक जानवर और कोई होता है, इस संसार में…ओह, काश, यह दुनिया कुछ भी जीने लायक हो पाती…!'

आंखें मूंदकर काका, पता नहीं किस समाधि में लीन हो गए!

तेरह

लोहाघाट की अदालत में जिमदारों की हार ने मामला और भी उलझा दिया था। बेनाप ज़मीन का केस पिथौरागढ़ की बड़ी अदालत में चला गया था।

काका को लग रहा था—खीझे हुए जिमदार कहीं कोई हिंसक वारदात न कर बैठें! यह जानते हुए कि पटवारी उनसे मिला है, न्याय नहीं करेगा—उन्होंने आगाह करा दिया था।

वृद्ध काका को घेरने के लिए नित नये-नये जाल रचे जाने लगे। देवदार के पेड़ों की चोरी के मामले में पधान के बेटे घना के बदले अब देवा का ही नाम लिया जाने लगा था। घना को चश्मदीद गवाह बना दिया था। ऐसे और भी कई लोग तैयार करवा दिए थे, जो कहते थे कि देवा को रात के अंधियारे में पेड़ काटते उन्होंने स्वयं अपनी आंखों से देखा था।

इतना सब अभी चल ही रहा था कि एक दिन सुबह-सुबह लोगों ने देखा—पटवारी-पेशकार ने देवा का घर घेर लिया है।

मामला क्या है—देवा की समझ में नहीं आया।

बिछौने से घसीटकर उसे बाहर लाए और हाथों पर हथकड़ी डाल दी।

'मेरा क्या कसूर है···?' देवा ने आश्चर्य से पूछा, 'आखिर यह सब क्या···?'

पेशकार ने अपने भारी-भरकम बूट से एक ठोकर मारी, 'हरामजादा, हमसे पूछता है—क्या कसूर है? कमीने, कतल करते समय अपने बाप से नहीं पूछा था कि यह सब क्या है···?' दूसरी ठोकर लगाई तो मुंह के बल मेंड़ के पत्थर पर जा गिरा। होंठ बुरी तरह कट गए और मुंह से खून की धार गिरने लगी।

पटवारी ने उसकी अधनंगी देह पर तड़ातड़ डण्डे जमाने शुरू किए तो वह थर-थर कांपने लगा।

दोनों हाथ बंधे थे। मुंह भी पोंछ पाने की स्थिति में नहीं था। हथकड़ी की रस्सी रगकर लाल हो गई थी।

गाव में गिरदम्म मच गया।

भयत्रस्त, आतंकित स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे, सब हाथ का काम छोड़ दौड़े-दौड़े आगन में आ जुटे।

'सरकार, क्या भूल हो पड़ी हमारे देवा से—?' वृद्ध पधान ने हिम्मत बाधकर पूछ ही लिया।

'कमीना, धर्मात्मा बनता है! बनबसा में जोती परसाद की हत्या में भी इसका हाथ बतलाया जाता है। फारम में पूरी मजदूरी न मिलने के कारण मजदूर नाराज थे। अपने फारम के मकान में जिस रात उसकी हत्या हुई, उस रात यह भी वहीं था। हत्या जो हुई, सो हुई, अठारह-बीस हजार की नकदी भी नदारत है···!'

'यह तो इन दिनों माल-भाभर की तरफ गया ही नहीं!' पधान हाथ जोड़ते हुए बोला।

'अबे, जाड़ों में तो गया था स्साला! तीन-सवा तीन महीने वहा रहा।' पटवारी ने तड़कते हुए उत्तर दिया।

लोहाघाट की हवालात की तरफ जब देवा को बंधी गाय की तरह हांककर ले जाने लगे तो मझली बहू, बच्चे सब डाड मारकर रो पड़े।

काका भागते-भागते जब तक लोहाघाट पहुचे, तब तक देवा को पूछताछ के लिए नैनीताल ले जा चुके थे।

चौदह

लुटे-लुटे-से काका गाव पहुचे तो देवा के नन्हें-नन्हे बच्चे उनसे लिपट पड़े।

कोरे आकाश से एक दिन ऐसा वजरपात भी होगा—उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी। रात को नन्दू को बुलाकर बोले, 'अब तू ही इस घर में सबसे सयाना है नदिया···! तू ही बड़ा, तू ही सबसे छोटा। तेरे होते हुए हमारे देवा के बच्चे बेसहारा नहीं हो सकते। खाना पहले उसके बच्चों को देना, फिर अपने। देवा के साथ ही नहीं, यह जुलम हम सब पर है। बिना अपराध के देवा को फांसी लग गई तो हम सब कहीं के भी नहीं रहेंगे। घर में घुसकर, ये राकस एक-एक कर सबको मार डालेंगे···' काका का गला भारी हो आया।

मंझली बहू टुल-टुल रोने लगी तो काका को जैसे होश आया, 'बहू, तू क्यों रोती है पगली? तेरे लिए तो अभी हम सब हैं।···देखना हमारा देवा एक दिन जरूर छूटकर आएगा···देख लेना···!'

घर में जो कुछ भी गहना-पत्ता, पैसा-पाई बचा था, मंझली ले आई। बच्चों के हाथों में चांदी की धागलियां थीं, पतली डोर-जैसी, उन्हें भी उतार लाई। गांगि 'का के सामने रखती हुई बोली, 'इसके अलावा घर में और कुछ भी नहीं···! जैसे भी हो उन्हें छुड़ा लाना···।' मंझली बहू की आंखों से टप-टप खून की बूंदें गिरने लगीं।

काका टूट सकते थे, झुक नहीं। कमर बांधकर सुबह फिर निकल पड़े।

पन्द्रह

धनकोट पहुंचे ही थे कि सबने घेर लिया।

'देवा के साथ अन्या हुआ कका, घोर अन्या···यह कैसा राकस राज है!'

काका कुछ क्षण चुप रहे।

'आप तो कहते थे कका, गरीबों के लिए अब अच्छे दिन आएंगे! सबके साथ न्या होगा! पर यह क्या न्याय है, जहां कोई रो भी नहीं सकता···!'

'देवा के साथ अकेले हो तो ऐसा अन्याय नहीं हुआ !' कुछ [illegible] काका बोले, 'ऐसे हजारों देवा हैं, जो दूसरों के [illegible] दूसरों के लिए फासी पर झुला दिए जाते हैं…!'

'आप अब यहीं एकांत में बैठकर [illegible] जुलम तो हम पर पहले भी होते थे, अब भी हो रहे हैं—[illegible] नहीं कब तक होते रहेंगे ! इन्हीं सब कारणों से [illegible] इस तरह झमेलों में डाल रहे हैं—[illegible]' जगराम ने सुझाया तो काका हंस पड़े, '[illegible]' यह आज नहीं तो कल होगा। अन्याय के खिलाफ [illegible] आवाज उठानी ही होगी। तुम्हारे हरिया के बदले [illegible] क्या फर्क पड़ता है ! किसी की बलि तो चढ़ेगी ही…'

कुछ रुककर काका आगे बोले, 'यह [illegible] और अधरम की लड़ाई है। पाप और पुन्न की है। [illegible] भी तो हम ऐसे ही लड़े थे…।'

'पर काका, दूसरों की आग में आप अपने हाथ क्यों [illegible]' [illegible] बैठे बुधराम ने शंका प्रकट की।

'अपना-पराया तो सब मन का भेद है बेटा ! [illegible] कोई आल-औलाद तो थी नहीं—फिर किसके लिए [illegible] में लड़ते रहे ! डण्डे खाते रहे ! …[illegible]'

काका चुप हो गए।

सोलह

पिथौरागढ़ की अदालत का [illegible] गया तो जिमदारों के पावों की जमीन [illegible]।

उन्होंने मामला नैनीताल की बड़ी [illegible] किया, पर लोहारों के सामने फिर [illegible]

का खरचा कहां से आएगा ?

गांगि 'का ने सबको बुलाकर 'पंच-फैसले' की योजना बनाई। जिमदारों को और चाहिए भी क्या था ? उन्होंने बात झट से मान ली।

दोनों तरफ से दो-दो पंच रखे गए—हर्सिह नायब मास्टर और पानसिंह दुकानदार जिमदारों की ओर से। ज्वालादत्त और उर्वासंकर धनकोट के लोहारों की ओर से। मानी पण्डत को सर्वसम्मति से सरपंच बना दिया।

तीन दिन पंचायत बैठी, पर किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाई। जिमदार-ठाकुर किसी भी कीमत पर अपने आसपास की बेनाप जमीन लोहारों को देने के लिए तैयार न थे।

अन्त में काका से रहा नहीं गया, 'आखिर ये बिचारे भी तो इंसान हैं यार ! धनकोटवालों की ठौर पर यदि आप होते तो क्या करते ? गौचर का रास्ता तो सरकार-दरबार ही नहीं, परमेसर के यहां से भी मिलता है…ये बिचारे बिना जमीन-जायदाद के हैं—आप सबके जूठे-पीठे पर पलने वाले ! सरकारी, बेनाप जमीन में से कुछ ये भी कपोर लें तो क्या हरज ! आप लोगों के पास तो डांडा पड़ा है—पूरा पहाड़ !'

'लोहारों की आबादी हम अपने बगल में नहीं चाहते !' फनककर मोतीसिंग बुंगियाल बोला।

'तो इन्हें सामने का डांडा आबाद करने दो। आपसे बहुत दूर रहेंगे। इनकी परछाई भी आप पर नहीं पड़ेगी…।'

'आप बुढ़ा गए हैं। बुद्धि भरस्ट हो गई है कका !' नाथसिंह जोश में आकर कहने लगा, 'तभी तो उल्टी-उल्टी बातें करते हैं ! हमारे खिलाफ इन्हें भड़काते रहते हैं। अगर ज्यादा करेंगे तो देख लेंगे। लाश का भी पता नहीं चलेगा…!'

गांगि 'का हमेशा की अम्लान हंसी में हंस पड़े, 'ज्यादा खाने वाला अन्त में कुछ भी नहीं खा पाता बेटा ! भगवान से कुछ तो डरो…!'

अन्त में फैसला जिमदारों के ही पक्ष में हो गया।

मानी पण्डत पैसा खाकर बहक गए। लोहारों के खिलाफ उन्होंने फैसला ही नहीं दिया, बल्कि अब तक का हर्जा-खर्चा भी उनके माथे ठोक

दिया।

लोहारों की आबाद की गई सारी जमीन जिमदारों ने हथिया ली। गोचर का रास्ता भी जब हमेशा-हमेशा के लिए बन्द करवा दिया तो काका सीधे अदालत में पहुंचे लोहाघाट की। डिप्टी कलेक्टर के पास जाकर हाथ जोड़ते हुए बोले, 'हुजूर, गरीबपरवर, अब आगे अदालत में जाने के लिए लोहार बेचारों के पास कानी कौड़ी तक नहीं। जिनके पास दिन-भर मिहनत-मजूरी करने के बाद, एक छाक खाने के लिए रोटी नहीं, लाज ढकने के लिए फटे-पुराने कपड़े नहीं, वे न्या के लिए किनके द्वार पर जाएं?…जिमदार अपनी पीठ निमोरने लगे हैं, अब वे पेट पर लात मारने पर आमादा हैं। यदि ,गरीबों की जमीन उन्हें नहीं लौटाई गई तो मैं यहीं—इसी अदालत के सामने अपने शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आत्मदाह कर लूंगा।'

काका की यह चेतावनी डिप्टी कलेक्टर को ऊपर से नीचे तक हिला गई। कहते हैं—पुन-हिंडोला में हुई मार-पीट के मामले में ऊपर के अफसरों से उसे बड़ी झाड़ खानी पड़ी थी, इसलिए इस बार तत्परता दिखाते हुए चम्पावत के तहसीलदार को शीघ्र मौके पर जाने का आदेश दे दिया।

तहसीलदार ने एक-एक जगह जाकर, सारी स्थिति का खुद जायजा लिया और किसी तरह समझा-बुझाकर जिमदारों से कब्जा छुड़वा दिया।

दबाव में आकर कब्जा तो उन्होंने छोड़ दिया, पर अब वे लोहारों के ही नहीं, गागि 'का के भी खून के प्यासे हो उठे।

जिन-जिन लोहारों के पास जितना कर्जा था, जिमदारों ने उन सब पर एक साथ दावा दायर कर दिया।

अन्त में अदालत से कुर्की करवाकर कटोरी, करछी तक सब एक-एक करके नीलाम करवाने लगे।

सत्रह

जो कुछ जमा-पूंजी थी, उसे लगाकर भी गांगि 'का देवा को न छुड़ा पाए। अनेक वार नैनीताल गए, पर अन्त में सब व्यर्थ रहा।

जिन लोगों का हत्याकांड में हाथ था, वे निर्द्वन्द्व होकर घूम रहे थे, और कुछों को वलि का वकरा बनाकर, वध के लिए इस तरह तैयार किया जा रहा था। लोगों का कहना था —हत्या तल्ला चाराल के देवा ने की थी, पर पुलिस ने इस देवा को लाग के कारण फंसा दिया है।

देवा के खिलाफ हत्या का ही नहीं, चोरी-डकैती का संगीन मामला भी बना दिया गया था।

अदालत में देवा ने सिर्फ इतना ही कहा—

—मैंने हत्या नहीं की। चोरी भी नहीं। मुकदमा लड़ने के लिए मेरे पास पैसा नहीं है।

लगभग दो साल तक केस चला।

अन्त में हत्या के मामले में तो वह वरी हो गया, किन्तु चोरी-डकैती के अपराध में सवा तीन साल की कठोर सजा हो गई।

आगे अपील कैसे करता ? न साधन थे और न किसी की सहायता ही। अतः चुपचाप जेल की सजा काटने के अतिरिक्त और रास्ता भी क्या था !

अठारह

—गांगि 'का की कुछ अज्ञात लोगों ने कल रात हत्या कर दी।

आग की तरह यह समाचार सारे इलाके में फैल गया।

उन्नीस

बिना अपराध की सज़ा काटकर देवा जब लौटा तो वह कोई दूसरा ही आदमी था। बढ़ी हुई दाढ़ी, कठोर चेहरा, धधकती हुई आंखें।

इन सवा तीन सालों की घोर यंत्रणाओं ने उसे बहुत कुछ सिखला दिया था। अन्याय का प्रतिकार न करना, अन्याय को बढ़ावा देना है—जेल में चक्की चलाते-चलाते, रामबांस कूटते-कूटते इस रहस्य को भी वह आत्मसात कर चुका था।

वह सीधा घनकोट पहुंचा।

उसे देखते ही लोग जिज्ञासा से निकट आए।

—कका इस मड़य्या में सोते थे देवा!

—कका के पहनने के कपड़े हमने अब तक सम्भालकर रखे हैं!

—इस छोटी-सी पीतल की थाली में कका खाना खाते थे!

—मरने से दो-तीन दिन पहले धार वाले चन्दन 'का से कह रहे थे—अब यह चोला अधिक चलने वाला नहीं है चना! शायद उन्हें मरने का आभास हो गया था। गांव जाकर एक बार फिर बच्चों से भी मिल आए थे।

—राम-राज का सपना अधूरा ही रह गया—कका अक्सर कहते रहते थे—अजुध्या में रावणों का राज हो गया है…।

—पिछले साल से कका का अन्न टूट गया था। दो-दो दिन तक गास नहीं तोड़ते थे।

—कका की हत्या किसने की, सब जानते हैं देवा, किन्तु डर के मारे कोई कुछ बोल नहीं पाता!

'किसका डर?' देवा अट्टहास कर हंस पड़ा, 'इतने जुलम सहने के बाद भी डरते हो? इससे अधिक और क्या हो सकता है तुमारे खिलाफ?'

देवा क्या कह रहा है? विस्मय से सब देखते रहे।

'कक्का को हत्या किसने की ? मुझे बताओ। मैं कहता हूं, चौबटिया पर खड़ा होकर। धाध लगाकर। गला फाड़कर!' देवा ने दहाड़कर कहा तो सब सन्न रह गए।

कुछ देर उनकी भयग्रस्त, अचरज में डूबी, बुझी-बुझी आकृतियों को ओर वह कुछ टटोलता-खोजता हुआ देखता रहा। फिर तनिक संयत स्वर में बोला, 'कक्का जोगी थे—परमहंस। इस धरती के परानी नहीं। पर हमारी धमनियों का रक्त खोले का पानी नहीं। जो हमें जीने नहीं देंगे, हम उनका जीना भी कठिन कर देंगे।···कक्का की हत्या क्यों हुई ? क्या दोष था उनका ? विना अपराध के मैं जेल में नारकीय जातना क्यों सहता रहा ? आप लोगों पर आए दिन ऐसे-ऐसे जुलम क्यों होते हैं ? कमलु 'का के बच्चे घुट-घुटकर, तडप-तड़पकर क्यों मरें ? इन पर विचार करना होगा···। तुम्हें जो भी सहायता चाहिए मैं दूगा···। तुम मुझे सहारा दो, मैं तुम्हें मुक्ति दूगा···! अपने परानों की आहुति भी देनी होगी तो खुशी-खुशी से दूगा···।' देवा का रौद्र रूप देखकर सब में दहशत छा गई।

घर लौटने पर देवा ने न बच्चों से कोई बात की, न पत्नी से ही कुछ बोला, नन्दू को घर का भार सौंपकर, रात के अंधियारे में, सिर पर कफन बाधकर चुपचाप निकल पड़ा—किसी सुबह की तलाश में ! *

अंधेरा और

कटीले तारों की तरह उलझी बेंत की घनी झाड़ियों को चीरता हुआ, जब वह आगे बढ़ा, तो बुरी तरह हांफ रहा था। शरीर जगह-जगह से लहू-लुहान था। बायें पांव के तलुवे की मोटी खाल, मूले बांस का खूंट गड़ जाने से मूली के छिक्कल की तरह एक ओर लटक गई थी, जिससे निरन्तर रक्त बह रहा था। कन्धे पर पड़ी सिमरिया तार-तार फटी, कमर पर कौपीन की तरह बंधी चौकट धोती पर जगह-जगह लहू के निशान थे—काले-काले धब्बे!

सूरज उगा नहीं था। पौ फटने में अभी देर बहुत थी। इसलिए आसमान को छूते, लम्बे-चौड़े दैत्याकार हल्दू, साल, शीशम के घने वृक्ष बड़े भयावने लग रहे थे। डाल पर बैठे पक्षियों के पंख फड़फड़ाने में कभी-कभी डरावना-सा स्वर निकलता। आकाश पर अटकी प्रेत-छायाओं का-सा भान होता।

जमीन-आसमान, जहां तक दृष्टि जाती अंधेरा-ही-अंधेरा!

उसके नथुने फड़क रहे थे। धधकती रक्तिम आंखों में गजब का आतंक था। भागते हिरन की तरह चौकन्ना होकर वह बार-बार सशंकित भाव से इधर-उधर देखता। पेड़ों से उलझी घनी लताओं के झुरमुट में तनिक-सी भी छन-मन की आहट हुई नहीं कि वह चौकड़ी भरकर भागने लगता।

अभी-अभी दूर कहीं गोली चलने की-सी आवाज शून्य में गूंजती उसे साफ सुनाई दी थी। तब से उसका हृदय धौंकनी की तरह धड़क रहा था। शंका से इधर-उधर देखता हुआ सोच रहा था—

कहीं उसके मन का वहम तो नहीं यह! इस विकट वन में, इस अंधेरी रात में गोली की आवाज भला कहां से सुनाई देगी? पता नहीं उसे अब

क्या हो गया है ? एक विचित्र-सी दहशत उसके मन में घर कर गई है। जो कुछ भी वह सोचता है, उसे लगता है, वह सब आंखों के आगे घटित हो रहा है। कभी उसे घास-फूंस के घर दिखलाई देते—धूं-धूं कर जलते हुए। कभी सुतरिया नदी में तैरती-उतरती लाशें ! कभी सेमल के बूढ़े वृक्ष तले पड़ी कोई निष्प्राण आकृति। गोबर-मिट्टी से लिपी देहरी पर कील वाले भारी-भरकम काले बूटों के गहरे निशान। कच्चे किवाड़ों पर खून से रंगे हाथों के छोटे-बड़े अनेक लाल धब्बे ! पूरा-का-पूरा भदरपुर गांव मुर्दों से पटा दीखता।

कभी-कभी एक और आकृति उभर उठती। सफेद कपड़ों में लिपटा कोई दैत्य, बैलगाड़ी हांकता हुआ, उसी के शरीर पर गाड़ी के पहिए चढ़ाने लगता तो कुचलने के भय से, दोनों कानों को हथेलियों से दबाकर, बुरी तरह चीख उठता !

"का हुआ रे परसिया ?" चौंककर कंचनियां कहती तो वह काठ की तरह उसके भयत्रस्त चेहरे की ओर देखता रहता।

"मैंने गलत देखा कंचनियां ! वह बइल-गाड़ि नाहिं, सर्दार सोहनसिंग का टरक था, टरक, जो मोरे सीना से पार निकर गया…!"

कंचनियां समझ न पाती, "का कहत हो ! सोहनसिंग अब हियां कहां ? टरक-ठेला गाड़ी कहां ? कोई सुपना देखा हैगा जागते मां !"

"हइऽ राम ! सपनांहि होता जौन देखा ! जेहि रोजहि देखत हूं…।" इतना कहकर परसिया जाने लगता तो कंचनियां उसका हाथ पकड़ लेती। इस पर वह तमकता हुआ मुड़कर देखता—

"पुलस पीछे परी है—बन्दूक तानि के। जब तक ई मुसीबत नाहिं निकर जात, का हो सकत है ! फारम वारे बिरजवासी ने म्हारे आधे खेत हजम करि डारे, अब पूरे निगलने के वास्ते मुंह खोलि के बइठा है ! खेत-घर छाड़ि दें तो तू हि बता, कहां रहें ?…जौन बात सच नाहिं, उहाको सुपनां देखना भी पाप है, घोर पाप !"

परसिया कह ही रहा होता कि कंचनियां स्वयं को रोक न पाती, "नीका सुपना भी तो तू देखत है—जागत-सोवत ! उसे देखना भी का पाप है ? अगर पाप है तो फिर पुन्न का है रे ?" कंचनियां का स्वर उदास

हो आता। उसकी ठोड़ी पर अंकित गोदने के तीन नीले-नीले बिन्दु और गहरा जाते।

"पाप का है? पुन्न का? हम नाहिं जानत···!"

"हम जानत हैं। हिया से कहिं दूर चले जात हैं। कालि नदिया पार नेइपाल मां बसि जात हैं। हुआ किसी की चाकरी करि के, धान कूटि के, जंगल मां बांस-लकड़ी काटि के दो परानियों का पेट तो अघा ही जाएगा ना!"

"तू तो निरी-निरी पगली है। नाहिं जानत!" हवा में हाथ हिलाता हुआ परसिया कहता, "दो का हि झंझटा नाहिं। जौन चार परानिया और है, उन्हें का धतूरा कूटि के पिलाइ दूं? मुतरिया में मुंह बांधि के फेंकि दूं?"

"उनका भी होइ जाइ! तू काहे को चिनता करत है!"

"चिनता उनकि नाहिं, पुलस को है। फारम वारे बिरजवासी कौ है···! तू नाहिं जानत। जे राकस हैं राकस—चारो ओर घेरि के खड़े हैं मुंह फाड़ि के।"

"मरद होइ के का बात करत हो?" कचनिया की बुझी आंखों में सहसा आग की लपटें उभर आतीं। दाएं हाथ से हवा में उड़ती बित्ते भर की ओढ़नी समेटती हुई कहती, "मनुस बार-बार तो नाहिं मरत, नाहिं···!"

"जे तू कहत है कंचनिया?" परसिया का बुझा-बुझा चेहरा दमक आता। मन का सारा संताप जैसे लहर छूकर बह गया हो। अबोध शिशु की तरह कचनिया की हिरनी-जैसी बड़ी-बड़ी कजरारी आंखों में आंखें डाले, जाने क्या खोजने लगता! गोदने का नीला रंग कितना निखर आया है! कानों में दूब के तिनके-जैसी पतली-पतली चांदी की बालियों का गुच्छा हवा में हौले-हौले तैरता हुआ कितना भला लग रहा है! माथे पर बिखरी स्याह लटें एक साथ कई चितर बना रही हैं। परसिया के फौलादी हाथों की जकड़ न जाने कब, कैसे इतनी गहरी हो जाती कि कचनिया की मुलायम कलाइयों पर गहरे निशान-से छूट जाते।

ज्यों-ज्यों दबाव बढ़ता, कचनिया भी त्यों-त्यों बदलती जाती। धीरे-

धीरे उसका साहस पिघलकर पानी बन जाता। एकाएक भावुक होकर कहती, "तू जंगल मां रहत है। दिन-रात भागत-फिरत है। पुलस तोहार पीछे है। हमहिं जहर दे दे परसि! जी के का करि हैं ?" कंचनियां का गला भर आता। परसिया के सीने पर दुबककर वह चुपचाप सिसकने लगती।

परसिया का मन डूबने-सा लगता तब। ऐसा कब तक चलेगा, उसकी समझ में न आ पाता। आखिर इस सबका अन्त क्या होगा? कैसा होगा? कब होगा? एक बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न उसकी आंखों के सामने उभर आता।

सूखा, ठण्डा भात पड़ा रहता। कंचनियां दबे पांव भीतर जाकर, चुपके से परात में ले आती। साथ में मछरिया का थोड़ा-सा बासी झोल भी।

आंखें बन्द किए, गूंगे पशु की तरह वह चुपचाप भकर-भकर खाता रहता।

कुछ देर बाद नीचे ज़मीन पर बिखरे सूखे पयार से यों ही हाथ पोंछता हुआ वह उठता और चुपचाप अन्धकार में कहीं खो जाता। कंचनियां कुछ पूछने के लिए कभी-कभी आगे बढ़ती, परन्तु प्रश्न गले में ही भंवर खाकर रह जाता।

दो

लगातार पानी बरस रहा था—कई दिनों से। गरज-तरज के साथ झमाझम बारिश हो रही थी। सुतरिया नदी का मटमैला पानी तट के बंधन तोड़कर दूर-दूर तक खेतों में बिखर गया था। गांव के पीछे खादड़ में छोटे-छोटे तालाब जो गर्मियों में सूखकर चटक गए थे, ऊपर तक लबालब भर आए थे। कई झोपड़ियां कमर-कमर तक डूबी थीं। बीच में भंवर की तरह मटियाली मिट्टी मिला गंदला पानी घूम रहा था। दइया के घर

में बर्तन-भाड़े तैर रहे थे। परमिया की कोठरिया में गाव-गराम में लोग जुटे थे। रोने-मिमकने का दबा हुआ स्वर गूंज रहा था।

पिरथी शाम को गाय-डगरों को लाने जगल गई थी, और लौटी न थी—आज सात दिन हो गए थे!

भीगू थारू ने खटीमा जाकर थाने में रपट दरज कराई थी। पर अब तक कोई पता-यानी मिल न पाया था।

नमरू ने जगल छान मारा था। बिहारी मुतरिया नदी के किनारे-किनारे दूर तक देख आया था। मफेदे के नये जंगल तक! कहीं डूब न मरी हो! परन्तु प्रश्न यह था कि वह डूबने क्यों लगी? चनकइया के परधान के घर भान हो गया था। अगले चैत में तो शादी ही तय थी!

भीखू के लिए दिन में ही तारे छिटक आए। इकलौता बेटा परसिया गांव गया था, कहीं दूर, अब तक लौटा न था। लड़की की कहीं कोई खोज-खबर न थी!

इस साल पता नहीं क्या सोचकर चकरपुर मण्डी में पिरथी के ब्याह के लिए कपड़ा खरीद लाया था। फसल पर हाथ खुले थे, शायद सोचा था कि उधारी में तो यही अच्छा है, वक्त पर काम आएगा।

घर में किसी से रार-रज नहीं। किसी से झगड़ा-फसाद नहीं। किसी किसम की कोई दुख-तकलीफ नहीं! फिर वह आत्मघात क्यों करने लगी?

तराई में शेर-बाघ तथा वन-हाथियों का ऊधम आए दिन रहता है। किन्तु बाघ-भालू भी उठा ले जाता या पागल हाथी पावों तले कुचल डालता तो क्या रक्त, मांस, हड्डियों का या पहनने के चीथड़े का— कोई निशान तो कहीं दीखता!

थानेदार हरपरसाद तहकीकात पर गाव आया था। पिरथी के लापता होने के लिए सारे गाव को जिम्मेदार ठहरा रहा था। उसका कहना था कि भीगू थारू ने अपनी जवान बेटी किसी परदेसी के हाथ बेच दी होगी—गाववालों की मिली-भगत से। नहीं तो लड़की एकाएक कहां गायब हो गई! डूबी नहीं, कोई भगाकर ले नहीं गया, किसी जिनावर ने चीरा नहीं, फिर?

कुछ साल पहले भी पास के ही सिवपुरा गाव में ऐसे ही एक लड़की

लापता हो गई थी। बाद में पूरे दो महीने बाद पता चला कि उसके मां-बाप ने सितारगंज के किसी फारमवाले के हाथ, थोड़े से टके के लालच में बेच दिया था।

भीखू ने दहाड़ मारकर परमेसर की सौगन्ध खाई थी कि वह ऐसा घोर पाप कैसे कर सकता है! अपनी बेटी को—अपनी ही सगी बेटी को गाय-बछिया की तरह कैसे बेच सकता है! उसे अपना परलोक बिगाड़ना है? राम, राम! ऐसा पाप! छिः!

जब थानेदार किसी भी तरह टलने को राज़ी न हुआ तो अपनी फटी मिरजई में से मुड़े-तुड़े, मैले-कुचैले कुछ नोट निकालकर, गिड़गिड़ाते हुए वह थानेदार के बूटों पर माथा टिकाकर रो पड़ा था, "देवता, ऐइसा नां कहो! कलपानत होई जावेगा। सरकार-दरबार ही ऐइसा कहेगी तो दुनिया का नहीं कहेगी?"

"स्साले, कमीने! छोकरी बेचकर खा गया और हमसे कहता है, दुनिया क्या कहेगी?" उसकी झुकी कमर पर ठोकर मारकर थानेदार चला गया।

थानेदार को थी भी कुछ जल्दी। शाम हो रही थी। खटीसा पहुंचते-पहुंचते अंधेरा हो जाएगा। लड़की खो गई तो क्या हुआ? दो-चार दिन में मौज-मस्ती करके घर लौट जाएगी। नहीं भी आएगी तो क्या गजब हो जाएगा? लड़कियां तो आए दिन भागती रहती हैं!

भीखू बरसात में भीगता हुआ, लाठी टेकता फिर बाहर निकल आया। कहीं-न-कहीं तो कोई खोज-खबर मिलेगी ही!

रात घिर आई तो वह मड़ैय्या में लौटा। किवाड़ के सहारे बांस की लाठी टिका ही रहा था कि बिन्दा टूटी लालटिनियां लिए भागता-भागता आया। बोला, "पिरथी की लाश बूढ़े सेमल के पीछे पड़ी है काका बंजर धरती मां, चील-गिद्ध लगे हैं। तमाम बास आ रही है—दुरगन्ध!"

लालटीन के सहारे, अंधियारे में रास्ता टटोल-टटोलकर भीखू के साथ-साथ सारा भदरपुर उमड़ पड़ा था।

—हियां तो हमने पहिले भी देखा था—कल, परसों!

—हो सकता है, घास में लाश छिपी हो, निगाह न पड़ी हो!

—लगता है, आज ही किसी ने फेंकी है।

—एक मोटर-ठेला चकरपुर की तरफ जा रहा था, यहां पर भी कुछ देर रुका। ये रहे पहिए के निशान!

इतनी बारिश के बावजूद भीगी मटियाली ठोस धरती पर, पहिए के निशान साफ दीख रहे थे।

—पागल हो तुम! कोई मारि के लाश हिया छोड़ि जाएगा—गाम के पास! मुनरिया में बाढ़ आई है। उसी में नाहिं बहा सकता था!

जित्ते मुंह, उत्ती बातें!

"पंचाइतनामा करके लाश को रात में ही जला दिया था। गांववालों को डर था कि कहीं फिर पुलिस आई तो फिर कुहराम मचेगा।

तीन

जब से मोहनसिंह का ट्रक बनबसा आता-जाता, रात-बिरात, भदरपुर रुकने लगा था, भीखू के मन में नाना प्रकार की शंकाएं उगने लगी थीं। धरमू पधान का छोरा झन्नू चाल-चलन का ठीक नहीं—पंचायत ने भी सरेआम ऐलान कर दिया था। शशी जब लापता हुई, तब सबसे पहला सन्देह झन्नू पर ही हुआ था।

पूरे दस दिन के बाद जब एक रात शशी, तन पर नाममात्र के कपड़े लटकाए लौटी तो उसे पहचान पाना कठिन था। फिर उसने जो राम-कहानी कही, उसे सुनकर तो सबके रोंगटे खड़े हो गए थे।

उसने रोते-कलपते बताया था कि किस तरह से शहर में 'मेला' दिखाने का लालच देकर झन्नू ने उसे जबरदस्ती 'टरक' पर बिठलाया। जाड़ा खूब था। हवा देह को लगती थी। इसलिए अपना आधा कम्बल उसके ठिठुरते शरीर पर लपेटे रहा—नन्हीं चिड़िया की तरह अपने सीने से दुबकाए कि कहीं सर्दी न लग जाए! बहेड़ी पहुंचने पर 'मेला' तो क्या दिखलाना था, हां, उसे ही एक मेला अवश्य बना दिया था। किसी खपरैल

वाले पुराने मकान के अंधेरे कमरे में बन्द करके, जबरदस्ती देसी दारू गले में उड़ेली और सारे कपड़े उतारकर, उन्हें किसी दूसरे कमरे में छिपा दिया था, ताकि बिना कपड़ों के कहीं बाहर न भाग सके ! उसे होश नहीं, क्या-क्या जुलम उसके साथ होता रहा। सातवें दिन, रात के घुप्प अंधियारे में जब खूब पानी बरस रहा था, बिजली कड़क रही थी—मौका मिलते ही फटे टाट का चीथड़ा देह पर लपेटे बाहर निकल आई थी।

बाहर कड़ाके की सर्दी थी। वह भागती हुई डामर की पक्की सड़क तक आ गई थी। सड़क के दूसरे किनारे पर कोई टरक-ठेले वाला ठेला रोके खड़ा था। बनबसा की तरफ कहीं जा रहा था। उसे पता नहीं, क्या सोचकर दया आ गई ! उसने चुपचाप ठेले पर बिठला लिया—सामान के बीच में थोड़ी-सी जगह बनाकर। दो-तीन दिन तक अपने पास रखे रहा। फिर जाती बेर, तन ढकने के लिए अपनी फटी लुंगी और पुराना कुरता दे दिया और रात को यहां तक छोड़ गया—सुतरिया के पुल के पास, नीम के पेड़ के नीचे···

भीखू ने देखा था। जगह-जगह उसके शरीर पर नीले निशान थे। घाव थे। दिनों तक वह बिस्तर पर पड़ी रही। बाद में पता नहीं, क्या हुआ उसे, वह पगला-सी गई थी। अपने शरीर के कपड़े वह स्वयं फाड़ने लगी थी। अपने बालों को बुरी तरह नोचने लगी थी। कभी-कभी जब पागलपन के लम्बे दौरे पड़ते तो वह अपने कपड़े उतार-कर, पोटली की तरह उन्हें सिर पर रखकर, बीच गांव में से छाछट नंगी निकल जाती थी। सुतरिया पर नहाने जाती तो सारे कपड़े किनारे पर ही छोड़ देती। निमय्या गांव का गराम-सेवक लल्लन एक बार उसे ऐसा बहकाकर ले गया कि फिर कभी वह गांव लौटी न थी। बनबसा के बाजार में लोगों ने उसे देखा था—ठेला डराइवरों की भीड़ में···टेशन पर छुक-छुक गाड़ी में लकड़ी का लदान करने वाले मजूरों के साथ···अन्त में किसी ने बतलाया कि वह चकरपुर से महेन्दर नगर-नेपाल की तरफ भाग गई है, किसी मुसलमान फेरीवाले के साथ।

यह नियति कोई नई नहीं थी। पहले भी ऐसा ही होता था गांव में,

जब भीगू छोटा था —तब भी इसी तरह लोग सताते थे। पचमी काका को दूसरे ब्याह की नई-नवेली बहू निनदूरी के साथ, पुलिस का मुछन्दर सिपाही हर हफ्ता खटीमा मण्डी से आकर दिन-दोपहर उनकी झुपड़िया में घुसकर बदफेली करता था। जिस दिन वह आता, काका उस सारे दिन बटे-बटे-से बाहर रहते—तलाब में मछरिया पकड़ने के बहाने। शाम तक जाल में जितनी भी मछरिया आती, वे भी सब मुछन्दर के पेट में समा जाती।

जब रात हो आती तो पचमी काका के कंधे पर कुटे हुए साफ चावल, साबुत उरद की दाल के थैले के साथ-साथ कुमड़ा या कद्दू भी लदवाकर अपने साथ डेरे तक ले जाता। बदले में सतजुगी काका को क्या मिलता? कभी लात, कभी कोई गन्दी-सी गारी। पूरे सात साल तक वह इस थाने में रहा, और उसका यही सिलसिला चलता रहा। लोग कहते हैं कि पचमी काका के तीनों छोरे उसी मुछन्दर पर गए थे।

और ये जो तिजारथ वाले पधान-साहूकार जाड़ों में पहाड़ से उतरकर थड़वाट में आते हैं, ये भी क्या कुछ नहीं करते!

पण्डत सीसराम पधान से पांच बीसी रुपये करजा लिए थे उसने। हर साल एक बीसी ब्याज के चुकाता रहा। साथ में चावल, धान, दाल का 'सीधा' अलग से। सारी जिन्दगी-भर इतना चुकाने के बाद, आज भी साबुत पांच बीसी रुपये ज्यों के त्यों उसके सिर पर हैं करज के।

सीसराम बामन माथे पर लाल चन्दन का टीका लगाकर, घोड़े पर सवार होकर आता—अकड़ता हुआ। जब भी वसूली पर गांव आता साहूकार बनकर, उसी की झुपड़िया में दिनों तक डेरा डाले पड़ा रहता।

उसकी जवान विधवा भावज को, रात के अंधियारे में अपने बिछौने पर घसीटते उसने कई बार देखा था। हरामी कहीं का! खटीमा में कुत्ते की मौत मरा था। बड़ी माता निकल आई थी। लाश को कोई उठाने वाला तक न मिला तो कहते हैं, जमादारों ने घसीटकर गंगा में बहा दिया था सुसरे को।

चार

परसिया जब गांव लौटा, तब मातम छाया हुआ था। पिरथी का दाह-संस्कार हुए अभी हफ्ता भी बीता न था, किन्तु सारे घर में पिशाच-छाया-सी मंडरा रही थी।

परसिया को न रात नींद आती, न दिन को ही चैन। हर समय बेचैन-सा, बावला-सा घूमता रहता, अपने ही घर के आंगन में, चिड़िया-घर के पिंजड़े में बन्द चीते की तरह।

परन्तु जिस दिन से उसने पिरथी के हत्यारे का पता लगा लिया, अपना आपा खो बैठा था। थाने में बड़ी उम्मीद लेकर गया था वह, परन्तु वहां उसे बुरी तरह घुड़क दिया था। गांव के लोगों से, पंच-सरपंच सबसे कहा उसने, पांवों पर टोपी धरकर, पर कोई सुनने को तैयार न था। सबने डरा-धमकाकर वापस भेज दिया था।

रात के अन्धकार में एक दिन, फिर पुलिया के पास, नीम के पेड़ की छांह में सोहनसिंह का ठेला रुका था। झन्नू के घर में देर तक कच्ची छनती रही, भात के साथ कुकड़ी भी तली गई थी।

दावत कब तक चलती रही, किसी को पता नहीं। किन्तु सुबह पौ फटने से पहले ही सारे गांव के लोग जाग गए थे। पुलिया के पास खड़े टरक से आसमान को छूती लपटें उठ रही थीं और पास ही सोहनसिंह की लाश तीन टुकड़ों में कटी पड़ी थी—खून से लथपथ।

दोपहर तक पुलिस का फौज-फर्रा आ धमका था। सारे गांववालों की सामूहिक पिटाई चल रही थी। गरदन झुकाए, हाथ बांधे सब खड़े थे—केवल परसिया के अलावा।

कल रात तक वह यहीं था। सोने से पहले पंचायत-घर के चबूतरे पर पधान ने स्वयं उसे देखा, पगलाया-सा घूम रहा था। फिर सुबह कह गायब हो गया, यह रहस्य किसी की भी समझ में न आ रहा था।

घर के आगे आम के पेड़ से भीखू को कसकर बांधा गया था। थानेदार उसकी झुकी हुई नंगी पीठ पर सपासप सोंटी मारता चला जा रहा था और वह दहाड़ मारकर चीख रहा था, कसाईखाने के जिबह होते पशु की तरह—गला फाड़-फाड़कर।

परसिया फरार था, इसलिए हत्या का सारा दोष भीखू के सिर पर मढ़ा जा रहा था। पर भीखू बार-बार यही कह रहा था कि हत्या में उसका हाथ नहीं।

जब वहां कोई सुराग न मिला तो अन्त में भीखू को ही नहीं, भीखू की घरवाली अमिया और छोरी चंदरिया को भी बांधकर थाने ले गए थे।

आठ-नौ दिन हिरासत में रहने के बाद जब वे गांव लौटे तो उनका हुलिया ही बदला हुआ था। भीखू के घुटने टूटे हुए थे, उनसे चला तक नहीं जा रहा था। गांव के लोग कन्धे पर उठाकर किसी तरह घर लाए थे। अमिया अपने को मुंह दिखलाने लायक भी नहीं समझ रही थी—लाज-शरम के मारे। चंदरिया की फूल-सी देह मुरझा आई थी। आंखों के नीचे काली-काली झाइयां। देह में दरद के मारे चला तक नहीं जा रहा था।

पुलिस के डर से कोई भी सहानुभूति जतलाने घर नहीं आया था। तीनों वैसे ही रोते-कलपते सारी रात पड़े रहे मड़ैय्या में।

पांच

"जे गाम छाड़ि के चले जात हैं···!"

"कहां—?"

"कहीं भी। हियां पुलस रोज-रोज परेसान करत है। हर हफ्ता थाना मा डियूटी। हर हफ्ता मार-कुटाई। हम आदमी हैं कि जिनावर···?"

"दूसरे गांम मां जाकर का पुलस छोड़ि देगी ? हुआं से भी थाना मां बुलावेगी !" भीखू ने कहा।

"तो कहीं दूर चले जात हैं वड़ी नदिया पार। पुलस-हाकम को जहां पता भी नाहिं चलै !" समर्थन पाने की डूबती आशा से अमिया ने पति की ओर कातर दृष्टि से देखा, "हुआं कौन जानत है हमें—उस मुलक मां ! हम कऊंन हैं ? का करत हैं ?"

"अपन गांम छाड़िना इतना आसान समझत हो ? अपन घर-दुआर ! खेत-खलिहान—।"

यह सुनते ही अमिया व्यंग्य से हंस पड़ी, दर्द-भरी हंसी में, "गहने-पत्तर गए। भाने-बरतन नाहिं रहे। खाने के लिए नाज का दाना तक नाहिं छोड़ा राकसों ने। बचा खेत-खलिहान फारम वारा किसी दिन हड़प लेइगा, जइसे संखी के बाप का हड़पा था। फिर बचा का है हियां—सिवा घास-फूस की टूटी मड़ैय्या के !"

"तू तो निरी-निरी पगराय गई है। अपन पुरखन की जमीन छांड़ि के कौन ठौर है हमहि ? हम हिया हि मरेंगे—इसी मट्टी मां।" भीखू ने तनिक आवेश में कहा तो अमिया सहम गई।

'एकहि पुत्तर है—फरार। कउन जाने जिन्ना भी है या···! पुलस का का भरोसो। अपन करम ही काने हैं तो कउन का करि सकत है ?" गहरी सांस भरती हुई अमिया बोली, "कउन जाने का लिखा है, अपन कपाल मां ? धतूरा खाई के सोइ जाहि तो तरान मिलि है।"

"हमार परसिया हिया कभी जरूर आवेगा, जिन्ना रहा तो—तू नहिं जानत है···।" भीखू छत की ओर देखता-देखता सहसा चुप हो गया था ! उसकी आकृति में अजीब-सी विवशता का, कातरता का भाव था।

सुबह कंचनियां चुपके-से आकर कुछ दाने चने के दे गई थी। उन्हें ही तवे पर भूनकर, ढेर सारा ठंडा पानी पी लिया था। चंदरिया का हाथ पकड़कर वह अपने घर ले आई। झिझने कपड़े में बंधी, पिसी हुई हल्दी की गीली गांठ को आग की आंच में गरम कर, सेंकती रही सारा दिन। कसाइयों ने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। जांघों तक में सूजन थी।

छह

परसिया के फरार होने के बाद पुलिस चुप नहीं बैठी थी। आसपास के सभी थानों में उसका हुलिया पहले ही भेजा जा चुका था, परन्तु वह तराई के बीहड़ वनों में ऐसा लापता हुआ कि फिर मिला नहीं।

उसे गिरफ्तार कर पाने के सभी प्रयास विफल रहे तो पुलिस ने उसके घरवालों को और अधिक परेशान करना आरम्भ कर दिया। खेत में खड़ी फसल एक दिन जला दी। महुँय्या के आम छिटकाकर नीचे फेंक दिए।

भीखू की फिर पेशी हुई और पदरिया को हर हफ्ते बुलाया जाने लगा, तहकीकात के नाम पर।

तभी एक दिन सारे थाने इलाके में फिर जलजला आया, जब पुलिस के एक सिपाही की रक्तरंजित लाश मुतरिया नदी में बहती दिखलाई दी।

भदरपुर गांव के निवासियों का कहना था कि इस दुर्घटना के दो-तीन दिन पहले, रात के अंधियारे में छिपकर परसिया घर आया था। जमनिया ने खुद अपनी आंखों से देखा था। कचनिया की झुपड़िया के पिछवाड़े, पयाल की ढेरी के पास बैठा भात खा रहा था। ज्यों ही आहट आई, कन्धे पर कुल्हाड़ी लिए खेतों की ओर भागा और फिर वहां से जंगल की दिशा में।

पुलिस का आक्रोश अब कचनिया पर भी उतरने लगा था। थानेदार गांव में आकर चेतावनी दे गया था कि जो परसिया को शरण देगा, उसे भी हवालात में बन्द कर दिया जाएगा। उसे खोजने का दायित्व गांववालों पर भी डाल गया था। अगर वे उसे ढूंढ़कर नहीं लाए तो गांव का गांव उजाड़ दिया जाएगा।

गांव के कुछ जवान-अधेड़ों को वह स्वयं जंगल की ओर खदेड़ गया

था कि उसे खोजकर लाएं, अन्यथा गांव ही न लौटें—

सात

आसपास खड़े वृक्ष सचमुच दैत्य जैसे लग रहे थे—बड़े-बड़े ऊंचे-ऊंचे! गंदला आसमान बादलों से घिरा था। कभी-कभी बिजली कड़कने के पश्चात् अंधकार और भी घनीभूत हो आता था।

सहसा तभी हवा की सनसनाहट बढ़ती तो बांस की झाड़ियों से सीटी का जैसा शोर उठने लगा। आपस में रगड़ खाने से बांस की टहनियां विचित्र-सा स्वर गुंजा रही थीं। लगता था इधर, अभी-अभी शाम को बारिश हुई है, इसलिए कहीं-कहीं गड्ढ़ों में पानी भर गया था। नई उग आई घास से जंगल के पगडण्डीनुमा रास्ते भी ओझल हो गए थे। केवल अनुमान के सहारे परसिया अंधियारे में चल रहा था, चलता जा रहा था—हांफता हुआ—एक सुर लय, में—कांपता हुआ।

बांस की घनी, कंटीली झाड़ियों से तनिक परे हटकर, जमीन पर तिरछे झुके खैर के पेड़ के नीचे, कूरी के पास एक विशाल पत्थर पड़ा था—हाथी की पीठ जैसा खुरदरा। उस पर बैठकर वह सुस्ताने लगा। बाएं पांव के तलवे से देर तक हथेली से दबाए रहा, शायद खून का बहना कुछ थमे।

सियारों के रोने और झींगुरों के झिन्-झिन् के अतिरिक्त और कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था अब।

तभी सहसा बेंत की झाड़ियों से किसी के कूदने की आहट आई। उसने आशंका से चौंकते हुए इधर-उधर देखा और एकाएक उठ खड़ा हुआ।

एक ही कदम अभी आगे बढ़ा था कि एक सफेद-सा खरगोश कान खड़े कर, बिजली की जैसी तेजी से दौड़ता हुआ बगलवाली झाड़ी में कहीं ओझल हो गया।

एक बार उठकर फिर बैठना उसके लिए असम्भव था। बैठते समय घुटनों में अजीब-सी टीस उठती, इसलिए उसने आगे, और आगे बढ़ने का निश्चय किया, जब तक कि सिर छिपाने के लिए कहीं ठीक-सा ठौर न मिल जाए !

उसके कन्धे पर कुल्हाड़ी उसी तरह अब तक रखी थी। [illegible] धारें नीचे की ओर लटके हुए। पागलों की तरह, वह बिना [illegible] लगातार आगे बढ़ रहा था—जंगल और घने जंगल में, जहां [illegible] साया उसे छू तक न सके।

उसे लग रहा था, पीछे से कहीं मौत उसका पीछा कर रही है [illegible] पीछे-पीछे बेतहाशा भागकर आ रही है। उससे बच निकलने के [illegible] और कोई चारा नहीं।

अभी वह नदी का पथरीला रौखड़ पार कर ही रहा [illegible] डगरों के गले पर बंधी घण्टी की जैसी आवाज सुनाई दी [illegible] कुत्ते के भूकने का स्वर ! एक बड़े पत्थर पर खड़े होकर देखा [illegible] जलती दिखलाई दी उस पार।

चारे के लिए इधर-उधर भटकने वाले [illegible] लगता है।

वह चुम्बक की तरह खिंचता हुआ बढ़ने लगा।

कुछ ही दूरी तय करने पर लगा, उसका अनुमान [illegible] है [illegible] वृक्ष के नीचे ढोर-डगरों का गोल है। उसी के [illegible] है। तीन आदमी बैठे सुल्फई पी रहे हैं। ज्यों ही [illegible] हैं, ऊपर एक लपट-सी उठ रही है। जरूर [illegible] !

"कौन—?" नीचे झुकी टहनियों के हिलने से [illegible]।

"मय—!" परसिया ने हांफते हुए कहा, "[illegible]।"

"कहां जात हो ?"

"ऐइसे ही ढोर-डगरन की खोज मां ! [illegible] इधर लौटि आए !"

"सुनत नहिं जे ढोर की जवाज ! [illegible] रहित हैं।" बीच में बैठा व्यक्ति बोला।

वह क्षण-भर चुप रहा—कान लगाकर। रौखड़ की दिशा से ही घर्र्-घर्र् की आवाज आ रही थी, ठीक वैसी ही जैसी बड़े बर्तन में मट्ठा बनाते समय बांस की भारी मथनी के लगातार घूमने से आती है।

शुल्फई में एक लम्बी दम लगाकर वह भी अभी पांव पसारकर बैठा ही था कि ग्वालों ने ढोर-डंगर हांकने आरम्भ कर दिए, नये चरागाह की खोज में।

आठ

परसिया को मालूम था उसे पकड़ने के लिए पुलिस गांव वालों की सहायता ले रही है। चौथे दिन वह नाला पार कर ही रहा था कि बिरजा पधान सामने खड़े दीखे—.

"कहां भटकत हो परसुआ? गांम तबाह है। औरतन की इज्जत नांहि बची। पुलस डण्डा चलाय रहि है। तुम का घर-घर, द्वार-द्वार ढूंढत रहि हैं। तुम गांम चलो···।"

परसिया चुप—उनके चेहरे की ओर देखता रहा।

"तुम्हार घर कछु बचि नांहि। झुपड़िया तोड़ि डारी है। भीखू भीख मांगत है। चंदरिया की लाज तोहार हाथ है। तू घर चल!"

इस बार भी वह कुछ बोल न पाया।

"पुलस नाय करन को बोलत है, तोहार साथ। तू चल। तोहार मदद हम करि हैं—सारे गांम-गिराम के लोग···।"

"पुलस कब नाय करत है?" परसिया तुनक कर बोला, दबे आक्रोश के स्वर में, "वह तो खुद हि अनाय कराय रहि। हमार गय्यन-भैंसन को जे फारम वाले टरक मां धरि के ले जात हैं, तब पुलस का करत है? हमारि बहू-बेटिन को लोग घसीट के लेइ जात हैं, जोर-जबरन करत हैं, तब तोहार पुलस कहां जात है? चोर हर साल डाका डालत हैं। करछी-कटोरी-सब उठाय के ले जात हैं, तब पुलस को कछु नाहि सूझत? हमारा खेतन मां

फारमवारे कब्जा करि लेत हैं, तब पुलस किसका साथ देत है ? ऐसी पुलसिया पर हमार भरोसा नाहिं, तोहार है तो तुम जाओ''''।"

"तो का तू साथ नाहिं चलि है ?" कड़ककर बिरजा पधान ने कहा तो परसिया सहसा सन्नद्ध हो उठा। कुल्हाड़ी के बेंट पर हाथों की पकड़ तनिक तेज करता हुआ बोला, दांत पीसता हुआ, "काका, रार ना मचाओ ! खैर मानत हो तो लौटि जाओ। नाहिं तो हम कुछ भी करि सकत हैं—।"

बूढ़े बिरजा की फिर हिम्मत न पड़ी।

परसिया कन्धे पर कुल्हाड़ी रखकर फिर आगे बढ़ा, मिट्टी रौंदता हुआ। कुछ कदम चलकर एकाएक रुका, "फारमवारे बिरजवासी से कहि देना, झल्लू ने मां, तोहार भी दुई टुकड़े नाहिं किए तो हमार नाम परसुवा नाहिं ! फारम जनाय के हि हम फांसी पर झूलेंगे। अन्नाई दैत कहीं के !"

नौ

परसिया फिर वर्षों तक गांव लौटा नहीं।

पूरे पांच साल बाद रात के अंधियारे में एक दिन उसने [illegible] की मड़ैय्या का द्वार खटखटाया।

"कऊन—?" बीमार-सा नारी स्वर था।

"कंचनिया तू—!"

वह निर्निमेष उसके चेहरे की ओर देखता रहा [illegible] निशान आज कहीं भी दीख न रहे थे।

बढ़ी हुई काली दाढ़ी ! फटे कपड़े। बिखरे [illegible]

"काका किधर हैं ! हमार झुपड़िया कहां है—" [illegible] रहा था कि कंचनिया ने चुपके से पूरे किवाड़ [illegible] के लिए इशारा किया।

"काका''''नाहिं रहे—?" इससे अधिक [illegible]

"कइसे-कइसे ? का भवा ?" परसिया का मुंह खुल आया अचरज से।

"पुलस की मार-पीट से परेशान होइ के, अऊर तोहार जिन्नगी बचाने के खातर काका ने थाने मां बोलि दिहा कि सरदार सोहनसिंह का कतल हम करि है। पुलस का सिपाही हम मारि है। फारमवारे बिरज-वासी को भी। बिरजा काका ने गवाही दे डारी और काका को फांसी होइ गई, गए चैत मां•••।"

परसिया देर तक स्तब्ध-सा खड़ा रहा। अपने को सम्भालता हुआ फिर बोला, कुछ सोचता हुआ, "अम्मा किधर है ? चंदरिया—?"

"गांम छाड़ि के सब निकरि गहे। अब कोइ नाहिं हिंया। झुपड़िया की ठौर मां संखिया के बाप ने ऐहि फसल मां धान बो डारा है। देखत नहीं, घेर-बाड़ लगा है ?"

कोने में मिट्टी तेल की ढिबरी भभक रही थी। उसी के पास बांस की चटाई पर कोई नन्हा शिशु गहरी नींद में डूबा था।

"जे कौन—?"

इस प्रश्न का कंचनियां कोई उत्तर न दे सकी। कभी वह बिछौने पर सोए शिशु की ओर देखती, कभी परसिया के बुझे हुए, आतंकित चेहरे की तरफ।

कुछ क्षण यों ही प्रस्तर प्रतिमा की तरह निस्पन्द खड़ा रहा परसिया। सहसा न जाने क्या सोचता हुआ मुड़ा, तो कंचनियां ने टोका, "कहाँ जात हो—इत्ते अनेरे मां•••?"

प्रत्युत्तर में परसिया कुछ भी बोल पाया। अंधियारे में चुपचाप चलता रहा, कन्धे पर कुल्हाड़ी धरे !

**

कांछा

सनसनाती हुई तीखी हवा की तेज धार !

बर्फ गिरने के जैसे आसार !

तन का जो भी हिस्सा खुला रह जाता है, पहले लाल, जामनी, फिर नीला पड़ने लगता है—निष्प्राण होता हुआ।

इन जाड़ों में इतनी किल्लकारी की ठण्ड इससे पहले कभी भी नहीं पड़ी थी। नगे पाँव धरती पर पड़ते ही डंक-सा चुभता—प्राण निकल जाते। बीज के छिबकल-जैसे खुरदरे, रूखे हाथ-पांवों पर, चेहरे पर, जगह-जगह दरारें-सी पड़ जाती, जिनसे कभी-कभी रक्त उभरने लगता।

सोने से पहले, बर्तन-भाड़े माजने के बाद काछा जब अंगेठी की आग के पास बैठा, अपने थुर-थुर कांपते, निर्जीव नन्हे हाथ सेंक रहा था, काकी ने काठ के कठिया में से, करछी में खोप-खोपकर, एक डली च्यूरा की उसकी ओर बढ़ाई थी, "गरम करके हाथ-पांव पर मल ले काछू··· दरद कुछ कम होगा···लहू नहीं चुएगा···!"

सुनकर भी जैसे उसने सुना नहीं। मन कहीं और था—ऊहापोह में। नौनी-सी मुलायम, हिम-सी सफेद डली—छोटी-सी हथेली पर धरी, धीरे-धीरे घी की तरह पिघलने लगी।

भीतर जाकर काकी ने दूसरी तरफ का दरवाजा भड़ाक् से बन्द करके अलगनी लगा दी, तो वह अकेला रह गया, छोटे-से चौक में। बाहर के किवाड़ पहले से ही बन्द थे।

पानी बरसने लगा था शायद ! तभी पाथर बिछे आंगन में तड़-तड़ आवाज आ रही थी !

खरसू की लकड़ियां धधक रही थीं। च्यूरा पिघलकर, तेल की तरह

वह गया था —नन्हीं अंगुलियों की जड़ों की दरारों से। भीतर के कमरे में पहले हंसने-बोलने का स्वर—सम्मिलित स्वर देर तक गूंजता रहा था। पर अब चनक बन्द थी। मिट्टी तेल का लम्फू भी बुझ गया था। लगता था—सब सो गए हैं—सारी दुनिया। हां, कभी-कभी बाहर कहीं, ठण्ड से ठिठुरते कुत्ते का कर्कश स्वर अवश्य गूंज रहा था।

जगह-जगह से छलनी हुआ, मिलिटरी का फटा खाकी कम्बल लपेटे वह एक किनारे पर लुढ़क गया था—बंधी गठरी की तरह। उसके चेहरे पर धीरे-धीरे आतंक का भाव गहरा होता चला जा रहा था। उसे लग रहा था—वही बीभत्स, डरावना सपना वह जागी आंखों से फिर देख रहा है—स्वयं अपने को टुकड़ों में कटता हुआ•••

बिल्ली की-जैसी नुकीली मूंछों वाला यह 'भेड़िया' कभी भी उसे अच्छा नहीं लगा—वैसी ही लाल-लाल आंखें। वैसा ही डरावना चेहरा।

कम्बल कसकर लपेट लेता है वह।

उस दिन भी इसी तरह बर्फ गिरी थी•••तीन दिन तक लगातार•••

उसका मन उदास हो जाता है। उसकी आंखों के सामने पहाड़ के ढलान पर बसा दूर-दूर छितरे घरों वाला एक छोटा-सा गांव घूमता है—देवदार के घने वनों से घिरा। चीड़ के पिरोल की नुकीली पत्तियों से छंहा, एक टूटा छप्पर। छप्पर की छांह में रहने वाले तीन प्राणी। पांवों के पास बंधी मिमियाती बकरी—चीतल की पाठी की तरह मटमैली! भोली! जिसके सींग भी अभी तक फूटे न थे। अपना माथा, उसके माथे से टिकाकर वह कभी-कभी खेल में ज़ोर आज़माइश किया करता था— बकरी की ही तरह ठेप देकर, हल्की-सी आक्रामक मुद्रा बनाता हुआ माथे से माथा भिड़ा देता—ठप्प्-से।

पहले तो बकरी बालिश्त भर पीछे हटती—मोर्चा जमाने के लिए, पिछले दोनों पांवों पर तनिक अधिक बल देती हुई, फिर वह भी उसी तरह हमला कर देती, ठीक उसके माथे पर अपने माथे का निशाना साधती हुई— गरदन किंचित् पीछे की ओर टेढ़ी मोड़कर—ठप्प् की आवाज़ के साथ दोनों भिड़ जाते। एक आक्रमण के बाद, फिर सहसा पीछे हट जाते दोनों—दूसरे आक्रमण के लिए मोर्चा सम्भालते हुए।

यह आक्रमण-प्रत्याक्रमण का क्रम तब तक चलता, जब तक कि दोनों थक नहीं जाते !

बकरी के गले में रामबास की पतली-सी रस्सी बांधे वह नीचे नौला की ओर दौड़ता हुआ ले चलता है—पानी पिलाने के लिए। सीढ़ीनुमा खेतों के मेड़ों पर उग आई नरम-नरम, हरी घास अपने नन्हे हाथों से नोच-नोचकर, उखाड़कर, उसकी आठों बकरी के मुंह की ओर ले जाता है...

उसकी छोटी-सी चपली पीठ पर हाथ फेरता हुआ, जब तक वह एक-एक तिनका भली भांति खिला न देता, सामने से हटता न था।

'शिवरात' के मेले में चार कांट दाड़िम बेचकर वह पीतल की छोटी-सी टुन्-टुन् घण्टी लाया था—खरीदकर। दिनों तक उसे बकरी के गले पर बांधे रहा। दलबहादुर की शादी की रात, भीड़-भड़क्के में न जाने कौन उसे उतारकर ले गया था! तब मां की फटी घाघरी की गोट पर लगा, लाल कपड़े का बित्तेभर का टुकड़ा चीरकर, रस्सी की तरह बटकर बकरी के रीते गले पर बांध दिया था—फीते की तरह।

वह रंग-बिरंगा टुकड़ा कितना अच्छा लगता था! 'अ ऽ ले ऽ ले!' कहता हुआ, जब वह दूर से आता दिखलाई देता, तब वह अपनी नन्ही-सी रोएदार पूंछ आसमान की ओर खड़ी कर, फर्-फर् इधर-उधर हिलाती हुई मिमियाने लगती।

अपनी दाहिनी हथेली से वह रोज उसके सिर पर, दोनों रानों के बीच सहला-सहलाकर देखता—अनुमान लगाता—सींगों की जगह अब कुछ-कुछ उभरी-सी लगती है—खूंटे की तरह। लगता, अब सींग फूटने ही वाले हैं''।

म्यफा, काजु, धामलि, गारु, रोज अपनी बकरियों के लम्बे कान पकड़कर घसीटते रहते हैं परन्तु उससे ऐसा कभी भी हो न पाता! उसके हाथ कांपते। लगता, इस तरह जोर से कान खींचने पर वे जड़ से उखड़ गए तो!

बिना कानों के बकरी कैसी लगेगी! फिर उसे दरद भी तो खूब होगा न! उसकी बकरी अभी कित्ती छोटी है!

स्वयं को दरद देना उसे स्वीकार था, पर अपनी बकरी को नहीं!

उसके नन्हे प्राण कहीं नन्ही बकरी में बसते थे शायद !

अपने मामा के घर—पानिधार से लाया था, वह इस बकरी को। साल-सवा साल तक उसने मामा की गाय-बकरियां चराई थीं—स्वांला के बीहड़ वनों में। उनके पास ग्वाला नहीं था, इसलिए मां से कहकर उसे बुला लिया था— हाथ बंटाने के लिए।

पिता के लापता हो जाने के बाद, मामा के घर का ही कुछ सहारा बचा था। कालि पार, हिन्दुस्तानी-राज में पिता, आसपास के अन्य डोटियालों के साथ मेहनत-मजदूरी करने गए थे। साल-दो साल बाद और तो लौट आए, पर वह आज तक लौटे न थे। कुछ लोग कहते हैं—नदी पर पुल बनाते समय वह गए। कुछ लोग कहते हैं—बरमदेव मण्डी में हैजे से मर गए। दुल्लू-दैलेख की तरफ भी किसी ने देखा था। कुछ का कहना था कि किसी विधवा से ब्याह करके नया घर बसा लिया है उसने—कंचनपुरा की तराई की तरफ। पर यदि सचमुच जिन्दा होते तो क्या एक बार भी कभी घर न आते !

फिर भी वह जिन्दा हैं—यही मानकर मां ने अपने गले में चरेऊ का पल्ला अब तक बांधा हुआ था। चूड़ियां भी उतारी नहीं थीं। पर बड़े बेटे जेठा के गुजर जाने के बाद से अपने को हर तरह से असुरक्षित-असहाय अनुभव करने लगी थी। जेठा छोटा होने के बावजूद थोड़ा-बहुत हाथ तो बटा ही देता था…

मामा के घर आकर भी सुख मिला नहीं। गाय-बछिया के पीछे-पीछे दिन-रात जंगलों में भटकने के पश्चात् भी भरपेट भोजन नहीं। सबके खाने के बाद जूठा-पीठा जो भी बचता, उस सबको एक बर्तन में डालकर, उसके सामने रख देते—पशुओं की तरह। और वह दिनभर का भूखा उन जूठे टुकड़ों पर टूट पड़ता। मामी ने कभी एक बार भी नहीं पूछा कि कुछ और चाहिए ? या इत्ते से पेट भर जाता है कांछा !

रात को कभी-कभी उसके पांव दुखने लगते। असह्य पीड़ा होती। धौलि गाय इधर भागती, तो कालि खेतों की तरफ। बछड़े तो एक पल के लिए भी एक स्थान पर टिके नहीं थे। डेढ़ सींगवाला बैल और भी विचित्र था। लंगूरों को देखते ही, पूंछ हवा में सीधी खड़ी कर, आंखें मूंदे

सरपट भागने लगता।

लगभग सवा साल इसी तरह बीता। तभी एक दिन घर से मां आई और उसे साथ ले गई।

कर्कशा मामी को जाते समय न जाने क्या सूझा! बकरी की यह पाठी भी साथ बांध दी थी। मां मना करती रही, पर वह न मानी, "बरस-भर मिहनत के बाद इत्ता तो ले जा!"

दो

मूज की रस्सी गले पर चुभती थी, इसलिए उसने बाड़ में लगा हुआ रामबास कूटा और उसकी रस्सी बना ली। गहत-भट् के भुने जो भी दाने खाने को मिलते, पहले वह बकरी के मुंह की ओर ले जाता, फिर खुद खाता। जाड़ों में पता नहीं, कहां-कहां से बटोरकर हरी घास के तिनके लाता। रात को अपने फटे कम्बल का एक हिस्सा उसकी पीठ पर डाल देता, जब तक वह चुपचाप बैठी रहती, किंचित् ताप मिलता, किन्तु ज्यों ही हटती कम्बल भी खिसक जाता।

उसके धूप तापने के लिए आंगन में, बित्ते भर की जमीन उसने साफ कर दी थी। अपने छोटे-छोटे हाथों से उसे गोबर से लीपकर, उसके ठीक बीचोंबीच अंगूठे के बराबर एक खूंटा गाड़ दिया था, जिसके सहारे बकरी बंधी रहती थी। ज्यों ही धूप का टुकड़ा सरकता, वह उसे दूसरी जगह बांध देता था।

रात को आग के पास बैठी मां मडवे की काली-काली रोटियां सेंकती तो वह उसे गोदी में बिठाए हथेलियां गरम कर, सहलाता रहता। बकरी आंखें मूंदे चुपचाप बैठी रहती। भीषण सर्दी के कारण अक्सर बकरी की नाक छोटे बच्चों की तरह बहती···चूल्हे के पास से ठण्डे पानी का छींटा कभी भूल से भी शरीर पर पड़ जाता तो उर्र्-र्-से मारे बाल खड़े कर स्वयं झटपट उठ पड़ती···

उसके दाहिने पांव का आगे वाला आधा खुर जोगिया रंग का था। त्रिरशूली थान का बूढ़ा पुजारी कहता, 'यह पाठी तो देवी को चढ़ेगी…।'

देवी को तो नहीं चढ़ी वह, हां, देवी गुरंग एक दिन अवश्य खा गया था उसे !

दूर का रिश्तेदार था—हिन्दुस्तानी फौज के गुरखा-रेजीमेंट में सिपाही। रिटायर होने के बाद अब अपने घर आया था—डोटि-नइपाल। खेती-पाती करके अपना जीवन-यापन करता था। एक-दो बार पहले भी वह यहीं से होकर कहीं गया था और रात को रुका भी था।

मां के हर काम में रुचि लेता। कहता, "मानबहादुर जिन्दा होता तो क्या अब तक घर नहीं आता ? बरमदेव मण्डी में ही मरा था वह। हमारे डम्बर बहादुर थापा ने अपनी आंखों से देखा था। उसकी लाश कालि गंगा में बहा दी थी उसने…।"

इस पर मां ढुल-ढुल रोने लगती, "वह कोई और होगा… और होगा। परदेस का मामला है। हो सकता है, कहीं नौकरी-चाकरी में हों। जब तक टका-दो-टका पास नहीं होगा, लौटेंगे किस मुंह! खेत गिरवी हैं। रहने को यह टूटी झोंपड़ी ! बर्फ के भार से किसी दिन बैठ गई तो, हम सब भी दबे पड़े मिलेंगे—।"

"तू तो निरी पगली है। इत्ते साल हो गए। अब तक तो लोग सात समन्दर पार से भी आ जाते हैं। तू मान क्यों नहीं लेती कि वह मर गया है, जब सारी दुनिया यही कह रही है…!"

मां का रुदन तब और बढ़ जाता।

"मेरे होते हुए तू क्यों चिन्ता करती है।" उसने मां का ठण्डा हाथ अपने हाथ में ले लिया था। पर मां वैसी ही चुप आंसू पोंछती रही थी।

रात को आग के पास बैठे वे पता नहीं कब तक बातें करते रहे थे ! और पता नहीं कब कांछा को नींद आ गई थी !

रात शायद अधिक बीत गई थी।

आग बुझने पर तनिक सर्दी-सी लगी तो सहसा उसकी नींद उचट गई थी। उसने देखा था—एक कोने पर बिछी फटी चटाई पर मां और देवी गुरंग, एक ही पंखी में लिपट कर सो रहे हैं—एक होकर। ऐसे ही

नौला के सामने घास उगी थी—विच्छू के बड़े-बड़े काँटेदार पौधे ! नीचे कीचड़ था । बच्चे नौले के पानी में डूबे पत्थरों से गनेल पकड़ रहे थे । कांछा की जेब में भी एक गनेल के सींग बांध लिए थे । अब उसे वह पत्थर पर चला रहा था···

साँझ के अंधियारे में जब वह घर की ओर बढ़ा, तो आंगन में ऊंची आग जलती दीखी ।

ज्यों ही आँगन की सीढ़ियों पर पाँव रखा, उसने देखा— बकरी का धड़ एक ओर लुढ़का पड़ा है । जलती आग पर रखकर, जिसकी खाल के सारे बाल जला दिए हैं । पतली-सी लाठीनुमा लकड़ी के नोक पर बकरी का कटा सिर अटका है । गुरंग धधकती आग में उसे भून रहा है···ज़मीन पर चारों ओर खून-ही-खून बिखरा पड़ा है, जो मिट्टी के साथ सनकर काला हो गया है ।

कांछा चीख पड़ा । उसने आवेश में एक जलती लकड़ी उठाई और ज़ोर से गुरंग पर दे मारी ।

गुरंग का हाथ झुलस गया था । चिंगारियां गिरने से कालर के पास से ऊनी कोट भी कुछ जल गया था । मुंह पर भी कुछ चोट लगी ।

गुरंग ने बाज़ की तरह झपटकर उसे इतनी ज़ोर से चांटा लगाया कि वह ज़मीन पर औंधे मुंह गिर पड़ा था ।

"मेरी बकरी तुमने क्यों काटी ? क्यों काटी ?" वह पागलों की तरह लगातार चीखे चला जा रहा था ।

वह फुंफकारता हुआ फिर उठने लगा था कि मां ने पास पड़ी लकड़ी से उसे तड़ातड़ चूटना शुरू कर दिया, "मरता भी तो नहीं राकस ! इसी के लिए जी रही हूं, पर यह है कि किसी और को जीने भी नहीं देता ! पैदा होते ही मर मुकता तो आज यह संकट तो न होता ! दो रोटियां तो कहीं से भी बटोर लेती ! इत्ती बड़ी दुनिया है···!"

कहती-कहती वह स्वयं भी रो पड़ी थी—दहाड़ मारकर ।

तीन

आंच पर रखी पतीली में बुद्बुद् मांस पक रहा था। वातावरण में तीखी गन्ध बिखर रही थी। समीप ही काछा अचेत-सा सोया था। पीठ पर, घुटनों पर, जगह-जगह लकड़ी की मार के नीले निशान थे। बाईं कुहनी से लहू बह रहा था।

"येऽऽ काछा, ले रोटि खा ले…!" मां ने आवाज लगाई तो उसने जैसे सुनकर भी सुनी नहीं। वैसा ही पड़ा कराहता रहा।

गुरंग पास ही बैठा अंगारों पर रखकर कलेजी के टुकड़े भून रहा था। उन पर नमक मिलाकर, बड़ा स्वाद ले-लेकर चबा रहा था। पास ही पीतल का गिलास था, जिसमें से घूंट भरकर वह कुछ गटक रहा था।

मां ने मड़वे की एक मोटी काली रोटी, और एक कटोरी में गरम-गरम मांस उसके पास रख दिया, जिसे काछा ने छुआ तक नहीं।

रोटियां बन चुकी तो दोनों पास बैठकर खाने लगे।

"अरे, तू नमक के साथ क्यों खा रही है—शिकार ले ले!" गुरंग ने कहा तो वह जैसे किसी दूसरी दुनिया में खोई हुई थी।

"आज बरत है न! शिकार नहीं चलेगा…।"

"हो-हो," करता हुआ गुरंग हंस पड़ा था, "तो सब सूखे ही खाना पड़ेगा?"

मां ने पहला कौर तोड़ा ही था कि सहसा हाथ ठिठक गया, "कांछु, रोटि खा ले बबु!"

एक-दो बार उसने ये ही शब्द अनुनय से और दुहराए तो गुरंग को न जाने क्या सूझा! कम्बल का कोना खींचकर, उसे झकझोरता हुआ तड़ककर बोला, "ये हरामि साला, खाता क्यों नहिं?"

कटोरी से उठाकर एक बोटी उसके मुंह पर जबरदस्ती लगाने ही वाला था कि काछा चिल्ला पड़ा, "नहिं, नहिं, मुझे नहीं खाना…मेरी

बकरी तुमने क्यों मारी क्यों···?" सचमुच वह फिर रो पड़ा।

"मेरे घर से ले आना हरामि···!"

"मुझे नहीं चाहिए और! बस्स, मेरी ही बकरी मुझे दे दो।" फटी, काली आस्तीन से बहती नाक पोंछता हुआ, वह सिसक पड़ा।

मां ने उसके माथे पर हाथ लगाया, जो तप रहा था, "कुछ खा ले कांछा···दिन-भर से भूखा है। शाम तो कह रहा था—बड़ी भूख लगी है मां!"

तन पर कम्बल लपेटे कांछा कुछ क्षण बाद चुपचाप उठा और बाहर निकल गया—गहरे अंधेरे में।

मां बाहर आई।

गुरंग भी।

पर वह अंधकार में ऐसा खोया था कि कहीं कुछ अता-पता ही न मिला।

थककर, हारकर दोनों भीतर चले आए थे।

कांछा पड़ोसी के जानवरों के गोठ में जाकर चुपचाप छिप गया था।

कुछ देर अंधियारे में बैठा रोता रहा। फिर तनिक भय-सा लगा तो उठ खड़ा हुआ। खूंटे के आगे अंधकार में कुछ हिलता-डुलता-सा लगता। सांकल खोलकर दबे पांव बाहर निकल आया। अपनी मड़ैय्या के कच्चे किवाड़ के पास आकर ठिठक गया—

हल्की पीली आग उसी तरह जल रही है···भीतर से खिलखिलाकर हंसने की आवाज़···गुरंग झगड़ा कर रहा है—हंस-हंसकर हाथापाई···लोग ऐसे भी झगड़ते हैं! क्यों झगड़ते हैं? उसकी समझ में नहीं आ पा रहा था···मां के शरीर पर नाम मात्र के कपड़े भी उघड़े हुए··· वैसा ही गुरंग···

कांछा ने आंखें मूंद लीं। उसकी समझ में कुछ भी न आया, फिर भी उसे यह सब अच्छा नहीं लगा। सांकल खोलकर वह फिर पशुओं के गोठ में घुस गया। मुड़े हुए घुटनों पर सिर टिकाए कछुए की तरह, हाथ-पांव सिकोड़े बैठ गया और सारी रात इसी तरह बैठा रहा···

चार

सुबह दूध दुहने आई पड़ोसिन ने देखा तो अचरज में पड़ गई, "अरे, काछा, तू यहां क्या कर रहा है ?"

काछा उसी तरह बैठा रहा। सूजी हुई लाल-लाल उनींदी आंखों से अपलक देखता रहा।

इतने में उसे खोजती-खोजती मां भी आ पहुंची।

पुचकार कर घर ले गई, "तू तो निरा-निरा पागल है रे काछु ! रात खाना भी नहीं खाया, और इस ठण्ड में यहां आकर छिप गया है ! कहीं तुझे बाघ या सियार उठाकर ले जाता तो…।"

काछा वैसा ही गूंगा बना रहा।

आंगन पर आकर उसने देखा—

ताजी कुछ हड्डियां बिखरी हैं—नारंगी के पेड़ की जड़ पर—सिमुड़े के पौधे के पास।

उन्हें समेट कर उसने मुट्ठी में दबा लिया। जहां पर बकरी का खूंटा गड़ा था, वहीं पर उन्हें रख दिया मिट्टी और हरे पत्तों में, बड़े जतन से ढक कर।

"क्या कर रहा है काछी ?" मां ने मुड़कर देखते हुए पूछा—सहज जिज्ञासा से।

"कुछ नहीं…बकरी को बो रहा हूं…यहां पेड़ उगेगा, जिसमें बकरियां लगेंगी…!"

"हो—हो—हो—।" गुरग भीतर से मुंह फाड़कर हंसता हुआ आया, "इसी के साथ-साथ तुझे भी बो दूं तो हरामि !"

मां को गुरग का यह व्यंग्य अच्छा नहीं लगा। काछा का हाथ पकड़-कर वह भीतर ले गई।

"तेरे भाग का शिकार रखा है, कटोरी में। खाएगा नहीं ?"

कांछा प्रत्युत्तर में कुछ बोल न पाया। डबडबाई आंखों से देखता रहा…

गुरंग इस बार पूरे नौ दिन रहा। कांछा ने देखा—गुरंग खुश है। दिन-रात मुंह फाड़े हंसता रहता है—बात-बिना बात। इस घर के हर काम में अपने घर की तरह दखल देने लगता है। मां भी प्रत्येक बात में उसकी राय लेती है। जो कुछ वह कहता है, वही होता है।

हमेशा गुमसुम-सी रहने वाली उदास मां में भी उसे बड़ा परिवर्तन लगता है। गुरंग जो नए कपड़े लाया था, उन्हें बड़े सलीके से पहनती है। बालों को चुपड़कर रखती है। माथे पर लाल पिट्‌ठयां लगाती है…

जब तक बाप था, मां ऐसे संवरकर कभी भी न रही। दोनों प्रायः एक-दूसरे से झगड़ते रहते। बाप को शुल्फई पीने की आदत थी, जिससे सूखकर जंग लगी काली कील-सा रह गया था। इसी बात को लेकर घर में आए दिन कुहराम मचा रहता।

"तुझे तेरे देबी चाचा अच्छे नहीं लगते ?" मां ने एक बार पूछा तो उसने मात्र सिर हिला दिया था—आक्रोश में। इसके बाद फिर कोई प्रश्न पूछने का उसे साहस ही न हो पाया।

पांच

कार्तिक का महीना बीत रहा था। वृक्ष एकदम सूखे लग रहे थे—एक भी पत्ता कहीं दीखता न था। चारों ओर वीरानी-ही-वीरानी—डरावनी उदासी का विकट साम्राज्य ! नदी, नालों के किनारों का पानी जमने लगा था। ठोस, पारदर्शी शीशे-से कांकरों पर पांव पड़ता तो कर्र्‌ र्‌ से टूटने-चटकने की आवाज होती। बच्चे बच-बचकर किनारे पर चलते। कहीं स्वच्छ जल से कोई बड़ा-सा, चौड़ी थाली-सा कांकर तोड़कर धूप में बैठकर चूसने लगते—ठण्ड से ठिठुरते हुए।

रात को पाला इतना गहरा पड़ता कि सुबह सारी धरती हिम की

तरह मफेद लगती। जिन ठण्डे स्थानों पर धूप न आ पाती, वहा दोपहर तक भी सफेदी छाई रहती।

कुहरा छुर रहा था। उगता ठण्डा सूरज कहीं मोटे-मोटे बादलों के बीच ऐसा घिर गया था कि उसके अस्तित्व का ही आभास न हो पा रहा था।

तभी चौड के कच्चे किवाड़ खड़खड़ाने की आवाज सुनाई दी उसे। फटी हुई, चीकट, काली गुदड़िया लपेटे वह बाहर की ओर लपका। साकल खोली ही थी कि सामने गुरंग खड़ा दिखाई दिया।

"अरे, काछा कैसा है तू···?" गुरंग ने उसे अपने दोनों बलिष्ठ हाथों से ऊपर उठाकर जोर से चूम लिया था। परन्तु गुरंग का यह लाड उसे रंचमात्र भी अच्छा नहीं लगा था। बिल्ली की जैसी छितरी मूछें चुभी थी। गाल पर लगा गीला निशान उसने उतरते ही, अपनी फटी आस्तीन में रगड़-रगड़कर पोंछ लिया था।

गोदी से उतरते ही वह झटपट दूर भाग खड़ा हुआ था।

जब-जब गुरंग आता, पता नहीं क्यों उसे एक विचित्र-सी बेचैनी घेर लेती थी।

उसे गुरंग ही नहीं, कभी-कभी तो मां भी अच्छी नहीं लगती थी। पता नहीं क्यों एक अदृश्य शंका उसके मन के किसी कोने में घर कर गई थी—एक मूक वितृष्णा। कभी-कभी वह परेशान-सा हो उठता।

दूसरे दिन गुरंग पास के ही गाव के किसी रिश्तेदार से मिलने गया था। मा घर के जूठे बर्तन समेट रही थी, "कांछा, तेरी तबीयत तो ठीक है न!"

काछा ने जैसे सुना नहीं। अपनी छोटी-सी गुलेल पर वह कसकर तागा बांधता रहा।

"अपने देवी चाचा के साथ चलेगा—उनके घर? वहां गाय हैं। भैंस हैं। तेरे खेलने के लिए बकरियां भी हैं—छोटी-छोटी···।"

कांछा इस बार भी उसी तन्मयता में लगा रहा।

"तेरे चाचा कहते हैं, वहां पक्का मकान है। लम्बा-चौड़ा आंगन। दाड़िम, अखोड़, सन्तोल के पेड़ हैं···।"

"......"

"और कुछ भी न मिला तो कम-से-कम भरपेट रोटी तो मिल जाएगी—दो छाक। तन ढकने के लिए फटे-पुराने कपड़े···यहां किसके सहारे रहूं रे? तेरे पिता को गए, इत्ते दिन हो गए···जिन्दा होते तो क्या अब तक घर न लौटते···?" मां का गला भर आया था।

"तू जा···मुझे कहीं नहीं जाना···।" वह अभी गुस्से से कह ही रहा था कि मां उसके भोले-भाले चेहरे को, उस पर उभरती-उतरती गुस्से की रेखाओं को देखती रही। फिर झट-से उसे प्यार से चूमती हुई बोली, "यहां क्या अकेला ही रहेगा?"

"हांऽ।" उसने दृढ़ता से कहा।

"क्या खाएगा? किसके पास रहेगा?"

"स्याना सेठ की नउकरी करूंगा···।"

मां जोर से हंस पड़ी, "क्या कहा, तू नउकरी करेगा? पगला!"

"तो मामा के घर चला जाऊंगा···!"

मां और भी जोर से हंस पड़ी थी।

छह

पीठ पर बंधे बांस के लम्बे डोक्के में कपड़े-लत्ते, बर्तन-भांडे, समेटकर वह आगे-आगे चल रही थी। उसके पीछे पिट्ठू लटकाए, बांस की लम्बी लाठी टेकता हुआ देवी गुरंग। सबसे पीछे, अपने टखनों तक बाप का फटा सूती कोट लटकाए कांछा—जाड़े से थर-थर कांपता हुआ—पीठ पर पोटली बांधे।

सारी वटिया सफेद पाले की मोटी परत से ढकी थी। उस पर चलते-चलते उसके मुट्ठी के बराबर छोटे नंगे पांव सुन्न हो रहे थे। वह बार-बार किसी पत्थर पर, पांव झटकते हुए तलुवे रगड़ रहा था, ताकि संज्ञाशून्य होते पांवों में तनिक ताप आए!

मुंह से गहरी भाप उठ रही थी, हल्के कुहासे की तरह। फटे कोट की लम्बी जेबों में उसने अपने दोनों हाथों की बन्द मुट्ठियां ठूंस रखी थीं, बाट-बट्टे की तरह। दाहिनी जेब के अन्तिम सिरे में रामबांस की पतली-सी रस्सी का वह टुकड़ा भी था, जिससे वह कभी अपनी दिवंगता बकरी को बांधा करता था !

ठीक मकई के खेत पर रखवाली के लिए खड़े किए गए पुतले-जैसा लग रहा था वह।

गुरंग इससे पहली बार उसके लिए जो कपड़े लाया था, उसने छुए तक न थे।

कहां जा रहे हैं ? किधर ? उसकी समझ में न आ पा रहा था।

नीचे, गहरी, अंधेरी घाटी की ओर से तीनों चुपचाप आगे बढ़ रहे थे। रास्ता ऊबड़-खाबड़, कच्चा ! सारे वन में धुंध-सी छाई थी—सफेद धुआं-जैसा ऊपर की ओर उठ रहा था। किसी पक्षी का 'घुघू' उदास स्वर बिखरकर, वातावरण में और भी उदासी बिखेर रहा था। नदिया के किनारे-किनारे एक लोमड़ी अपनी झब्बेदार दुम दबाए भाग रही थी। कुछ कदम चलने के बाद, पलटकर फिर पीछे देखती, और उसी गति से लपक-लपककर दौड़ती हुई आगे बढ़ती। लम्बी पूंछवाला एक बड़ा-सा रंग-बिरंगा पक्षी बुरांस की एक टहनी से उड़कर झप्-से दूसरी पर बैठ गया था…

काछा को ठोकर लगी, वह गिरते-गिरते बचा कि तभी गुरंग ने गुस्से से देखा, "आंख देखकर नहीं चलता कमीने का छोरा ! मरने पर ही उतारू है तो कुत्ते के पिल्ले, नीचे नदी में छलांग मार ले !"

काछा के पांव का एक नाखून नीला पड़ गया था। असह्य वेदना से तड़पता हुआ वह किसी तरह आंसू रोके रहा—गुरंग की मार के भय से।

सात

नया इलाका। नया गांव। नया घर। नया पिता। नया परिवार—उसे अजीब-सा लग रहा था—एकदम अपरिचित। वेगाना।

मकान पक्का था—पत्थर का। नीचे गोठ में पशु बंधते, ऊपर की मंजिल में लोग रहते। घर, कांछा के अपने घर से बड़ा था, पर यहां रहने वालों की संख्या भी कम न थी। घर की मालकिन के अपने ही सात बच्चे थे—वह स्वयं मां से अधिक दादी लगती थी। सुरकने वाले कपड़े के बटुए-जैसा मुंह था, जो दिन-रात हर समय खुलता-बन्द होता रहता। गालियों का सिलसिला भी अवाध चलता। जब से मां के साथ वह पहुंचा है, कहते हैं, उसका तीखा-कर्कश स्वभाव और भी तीखा हो गया है। घर में हर समय युद्ध की-सी भयावह स्थिति!

उसके नये पिता ने गलत नहीं कहा था। नीचे गोठ में बादामी रंग की बूढ़ी बकरी अवश्य थी, जिसकी तीन पाठियों में अब मात्र एक ही शेष थी—जिसकी चमकीली, चिकनी पीठ पर काले रंग के बड़े-बड़े चकत्ते थे। खुरों से ऊपर तक चारों पांव भी एकदम स्याह काले। किनमोड़े की कंटीली हरी पत्तियों को चबाती हुई वह दिन-भर मिमियाती रहती। शायद मां का सारा दूध दुह लिया जाता और उसके लिए कुछ भी बच नहीं पाता। घास भी भरपेट नहीं। तभी तो पीठ से पेट मिला रहता था! खूंटे-जैसे सींग निकल आए थे, पर किसी को मारती न थी। जिस खम्भे के सहारे बंधी रहती, उसे ही कभी सींग से खुरच लिया करती थी।

इसके साथ खेलने को कभी भी उसका मन न हुआ। जैसे घर की अन्य वस्तुएं पराई लगीं, ठीक उसी तरह यह बकरी भी। अतः दूर से ही देखकर रह जाता—अजीब-से विरक्त भाव से।

मां के प्रति भी अब कहीं उतना अपनापन नहीं रह गया था। कहीं दरार-सी पड़ गई थी—दूरी की। उसे लगता उसकी अपनी अन्य वस्तुओं

की तरह मां भी तो छिन गई है। रात को कभी नींद उचटती तो भय-सा लगता। बिछौने पर वह अपने को अकेला पाता, पता नहीं मां उठकर कहां चली जाती थी !

घर का कोई भी बच्चा उसके साथ खेलता न था। सब दूर-दूर से ही, अचरज से उसकी ओर देखा करते, जैसे वह कोई अजूबा हो।

इन अनजान, अपरिचितों के घर में उसे क्यों ले आई मां ? यहां रहकर उसे क्या सुख मिलता होगा ? इससे अच्छा था, अपना वही पुराना घर ! कम-से-कम अपनापन तो था। मां प्यार तो कर लिया करती थी। काजु, प्यों के साथ खेलता हुआ वह अपने को कितना खुश अनुभव करता था ! पड़ोस की बुढ़ि आमा कभी-कभी अपने पेड़ से तोड़कर खुबानियां दे दिया करती थी…

उसे लगता उसकी इन सारी परेशानियों का कारण मात्र यही व्यक्ति है, जिसने अपने भारी-भरकम बूटों से उसके नन्हे घरौंदे को कुचल दिया है। बिल्ली की-जैसी मूछों वाला यह व्यक्ति उसे कभी भी अच्छा नहीं लगा था। उसकी बकरी खाने के बाद तो बिलकुल भी नहीं !

इतना सब होने के बाद भी भरपेट खाने को नहीं !

"कल से काछा गाय-बकरियों को चराने जंगल ले जाएगा।" उसने एक दिन कड़कते हुए आदेश दे दिया था।

उसे गाय-बछियों को चराने से उतना भय न लगता, जितना वहां के भीषण, अंधेरे वनों से। कहते हैं, मेनिया बाघ हर रोज किसी का पशु उठाकर ले जाता है—दिन-दोपहर—सबके सामने।

सुबह मां ने विरोध किया। बाघ-भालू कहीं इसे ही उठाकर ले गए तो वह क्या करेगी ? इस पर नये बाप ने मुंह फाड़कर हंसते हुए कह दिया था, "ले ही जाते तो क्या अच्छा नहीं रहता ! इस करमजले का क्या करें ? घिस-घिस कर चन्दन लगाए, क्यों ?"

अभी तीसरा दिन भी बीता न था कि सचमुच एक बाघ दुधारु गाय को उठाकर ले गया था। यह समाचार मिलते ही घर में भूचाल आ गया था। हर कोई काछा पर बरस रहा था, "सो गया होगा कानि का छोरा ! तभी तो बाघ उठा ले गया। जागा होता तो शोरगुल न मचाता। आग

न जलाता। और तब जानवर डरकर भाग न जाता !"

रात को खेतों से लौटने के बाद नये बाप ने इतनी बेरहमी से मारा कि उसके नवनीत से सुकोमल, गोरे गालों पर पांचों अंगुलियों की छाप पड़ गई थी।

"हरामि का छोरा, अब और लापरवाही करेगा ?"

"न···हीं···।"

रात को रूखी रोटी भी न देकर उसे गोठ में—पशुओं के साथ बन्द कर दिया था।

खाना खाकर जब सब सो गए, तो गाय-बछियों को घास डालने के बहाने मां नीचे उतरी। कांछा पयाल के ढेर के ऊपर गुमसुम-सा लेटा था।

"कां—छा—?"

"···।"

मां ने हाथ में थमा धुंधला लालटेन ऊपर उठाकर देखा। कांछा के मुरझाए चेहरे की ओर क्षण-भर देखती रही अपलक। बगल में छिपाई दो सूखी रोटियां उसकी ओर बढ़ाईं। उसके बर्फ-से ठण्डे माथे को प्यार से सहलाया, "तुझे सचमुच यहां अच्छा नहीं लगता रे···?"

"···।"

"अपने मामा के यहां जाना चाहता है ?···वहां भर पेट रोटी न भी मिलेगी, पर मार तो नहीं पड़ेगी···!"

"···।"

"तो चल, अपने गांव लौट चलें ? दो-चार खेते हैं रूखे, सिर छिपाने के लिए छानी। जैसे अब तक गुज़ारा चलता था, आगे भी चला लेंगे···"

"···।"

"अरे, तू रो रहा है कांछी ?" उसके माथे पर अपना माथा टिका कर मां रो पड़ी—ज़ोर से।

आठ

दो-ढाई महीने ही अभी बीते होंगे।

जाड़ा जा रहा था, पर सूरज वैसा ही ठण्डा था—बुझा हुआ। हवा भी वैसी ही सनसनाती हुई, छीलती। पर धीरे-धीरे पहाड़ों का रंग बदलने लगा था। बांज, गरम्, बुरांश के मोटे-मोटे खुरदरे पत्तों के स्थान पर अब फिर नई-नई कोंपलें थीं। चारों ओर हल्की-हल्की हरियाली उभरती हुई।

मां एक दिन पशुओं के लिए घास काटकर लाने जंगल गई थी कि छिछली चट्टान पर बिछे चीड़ के सूखे पिरोल पर—पांव फिसला और वह घास के गट्ठर के साथ गठरी की तरह लुढ़कती-लुढ़कती गहरी, अंधेरी घाटी में समा गई थी—जहां छन-छन, मन-मन करती नदी बहती थी। ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों में घिरी पाताल-सी गहरी घाटी के ऊपर चीलें उड़ती तो डर लगता, कहीं गिर पड़ें भी!

दूसरे दिन किसी तरह गांव के लोग नीचे उतरे तो वहां क्षत-विक्षत अवशेष मिले। शव को ऊपर लाकर भी क्या करते! अतः वहीं नदी के किनारे पर वह कर आई चीड़ की लकड़ियों के ढेर में उसे जला दिया।

लोगों के साथ-साथ काछा भी सबके पीछे-पीछे नीचे उतर आया था। अपनी मां का शव देखकर, वह फूट-फूटकर रोने लगा तो पास खड़े किसी व्यक्ति ने हाथ पकड़कर झिड़क दिया था—"शनि का छोरा—!" उपेक्षा में गाली फेंककर आगे न रोने की चेतावनी भी दे दी थी।

काछा दूर खड़ा सजल नेत्रों से देखता रहा—

मां के रक्त-रंजित, क्षत-विक्षत शव को सफेद कपड़े में लपेटते हुए... नदी के किनारे उठाकर ले जाते हुए...शव को पानी में धोते हुए... लकड़ी के ढेर के बीच मां की लाश को रखते हुए...और अन्त में धू-धू कर

जलते हुए।

दाह-क्रिया में ही सांझ हो गई थी।

नहा-धोकर सब घर की ओर बढ़ने लगे तो उनके पीछे-पीछे उदास कांछा भी चलने लगा—तीखी चढ़ाई में हांफता-कांपता हुआ। हताश। निराश।

सब अपने-अपने घरों में चले गए, पर कांछा देर तक बटिया पर ही खड़ा रहा—किंकर्त्तव्यविमूढ। किस के घर जाए ? कहां ? उसकी समझ में नहीं आ रहा था। पत्थर के जिस मकान में मां एक दिन उसे लाई थी, उसने कभी भी उसे घर नहीं माना। पर अब तो मां भी नहीं रही!

किसी वीरान घर के दालान पर वह बैठ गया। सारी रात घुटनों में सिर छिपाए, ठण्ड से ठिठुरता हुआ बैठा रहा।

नौ

सुबह उदो-उदो से पहले ही वह निकल पड़ा। सामने जो भी रास्ता दीखा, बढ़ता चला गया।

भूखा-प्यासा! थका-मांदा !

सारा दिन वह चलता रहा।

रात के अंधियारे में जिस घर के कच्चे आंगन में उसके पांव ठिठके, वह किसी हद तक परिचित था। पहले भी यहां रहा था। मां तब स्वयं पहुंचा गई थी···

उसे देखकर मामा का मन पसीज उठा, पर मामी का व्यवहार सहसा कटु हो आया, "यह बला भी हमारे ही गले अटकनी थी ! अपने ही बच्चों को पालना कठिन है, उस पर यह मुसीबत !"

"अरे, गाय-डंगर चरा देगा। घर का भी कुछ काम-काज कर देगा कभी ! यह मुला-टुला अकेला कहां जाएगा ?···फिर यह भी तो सोच कि एक नौकर मिल गया मुफत का···।"

"कुल्ली, मजदुरी, नउकरी।"

"मेरे को भी कुल्ली, मजदुरी मिलेगा···?" कुछ अतिरिक्त उत्साह से वह बोला।

वह अभी कह ही रहा था कि सब एकाएक हंस पड़े, "तू करेगा कुल्लि-गिरी? घुघता साल्ला···"

वह अबोधभाव से उनके हंसते चेहरे ताकता रहा।

"यहीं मजूरि क्यों नहीं करता?" गोल दायरे में आग के किनारे बैठे तरुण ने सहानुभूति से पूछा।

अपने छोटे से हाथ नचाता हुआ वह बोला, "यहां कहां नउकरि-चाकरि?···दिन-रात काम-काम! उस पर मामी रोटि नहीं देती···।" वह रुआंसा हो आया।

"आमा नहीं—?"

"नां···"

"बाज्या-बाप···?"

"नहि।"

"भाई-बहन?"

उसने सिर हिलाकर 'नहीं' कहा।

अन्तिम सिरे पर बैठे अधेड़-से व्यक्ति ने सहानुभूति से देखा, "चल सकेगा, उतनी दूर?"

"हओंऽ।" उसने उत्साह से कहा। उसके कहने में बड़ा आत्मविश्वास था।

"हमारे साथ चलेगा तो मेरा मामा मारेगा नहीं···?"

"नहिंऽ।"

"तो चल फिर···!" कुछ देर सुस्ताने के पश्चात् वे चलने लगे तो वह भी वैसा ही पीछे-पीछे हो लिया। गाय-डंगरों की तरफ उसने एक बार मुड़कर भी देखा नहीं।

दस

तेल्या, पुन्नरिगढ़, जंगायाँ, समसावर…

ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ रहा था, त्यों-त्यों कहीं बड़ा हल्कापन-सा लग रहा था उसे। जैसे बहुत बड़ी कैद से मुक्ति मिली हो—सांस लेने के लिए एक खुला हुआ अनन्त आसमान! थकान के बावजूद भी वह अपने को बहुत हल्का अनुभव कर रहा था।

रास्ते में सभी बातें करते जा रहे थे—बहुत सुख है वहां! मेहनत मजूरी के बाद भरपेट खाना। कपड़ा-लत्ता ही नहीं, ऊपर से तनखा भी। लौटते समय नून-तेल, कपड़ा-बर्तन-भाण्डे…!

हिन्दुस्तानी राज में अच्छी नौकरी मिल गई तो बूट-पट्टी…कोट-पतलून…खुखरी लटकाकर चउकीदारी…रात को सीटि-डण्डा, दिन को मउज-मस्ती…

सुनहरे सपने!

सुनहरी जिन्दगी!

सारे रास्ते भर चलते-उठते, बैठते-सोते उन्होंने कितने ही किस्से सुनाए थे—परिचितों के। अपरिचितों के। धरामी का धरम बहादुर कैसे घर से भागकर गंगा पार हिन्दुस्तानी राज में गया था। तीन-चार साल बाद घर लौटा था—सिर से पांव तक एकदम चकाचक। सिर पर चमड़े का खाकी टोप, लम्बे बूट, कमर में चमड़े की चौड़ी पेटी, नाटे का आदमी के बराबर ऊंचा रोचा लाया था। चमचम रुपड़े, चूड़ि-बिन्दा, फूलछाप लोहे का बड़ा बक्सा…

कल रात जोगबड़ा में सोते समय नरसिंह छेत्री बतलाता था—चार-पांच साल पहले डडेलधूरा के बड़ा हाकिम के साथ वह महेन्दर नगर गया था—सामान ढोते हुए। वहां डिट्ठा के यहां खूब भात मिला था। रोटी मिली थी। दो वखत चीनी की चा। बीड़ी। पूरे दस दिन रहा था। बड़े

मजे थे वहां। गुड़ भी खाने को मिल जाता था···वड़ा हाकिम के साथ लौटना न होता तो वहीं रहता···

एक अनोखा संसार लग रहा था उसे स्वप्नमय ! महेन्द्रनगर देखकर तो आंखें खुल आई थीं। भय लगा था। वड़ा वाजार। अफसर-हाकम। दहशत-सी हुई थी। सड़कों पर इत्ती सारी भीड़ ! ये लोग कहां जा रहे होंगे !

महेन्द्र नगर से आगे—

इतना लम्वा, पक्का पुल उसने ज़िन्दगी में पहले कभी भी नही देखा था। वनवसा, खटीमा, चकरपुर। लोहे की गाड़ी ! मोटर-टरक। दो पहिए वाली, सड़क पर भागने वाली लोहे की घोड़ी।

दो-तीन साथी महेन्द्रनगर में ही रह गए थे—किसी के फारम में। कुछ टनकपुर मण्डी की तरफ चल दिए थे। एक वनवसा में लकड़ी के टाल पर···जवर वहादुर के साथ कांछा आगे वढ़ा, काम की तलाश में।

ग्यारह

"अए, डोटियाल दाइ, नौकरी करेगा ?" खटीमा वाजार में अभी प्रवेश ही किया था कि नुक्कड़ की दुकान पर पाल्थी मारे वैठा मोटा-सा हलवाई वेरुखी से वोला।

उसने मुड़कर देखा—

मिठाइयों के ढेर के वीच वैठा लाला उसे वड़ा सौभाग्यशाली लगा। इत्ती वड़ी दुकान ! ढेर सारी रंग-विरंगी मिठाइयां। मोटा-ताजा। खाता-पीता। तोंद कुछ-कुछ आगे की ओर निकली हुई। ऊपर वांहकटी पहने है। दोनों आंखों पर गोल-गोल दो दरपन के जैसे टुकड़े···

"करेगा, लालाजि, करएगा···।" जवरवहादुर हाथ जोड़ता हुआ, विनम्र भाव से समीप आया था। दुकान के आगे त्रिपाल का पुराना चीथड़ा टंगा था, स्लेटी रंग का, फटा हुआ—रस्सियों के सहारे हवा में

भूलता हुआ। वे दोनों उनके नीचे तक बढ़ आए।

"बोल, क्या लेगा ?"

"जो मजदूरी लालाजि देगा, लेह लेगा।" दोनों हाथों को परस्पर मलते हुए, उसने दीन-भाव से झुककर कहा।

कसाई जैसे बकरे खरीदता है, लाला भी लगभग वैसी ही उपयोगिता की दृष्टि से उन दोनों को तोलता रहा। कुछ सोचता हुआ बोला, "बड़े को नहीं रखेगा। छोटा ठीक है। दूकान में पानी भरेगा! बर्तन-भांडे साफ करेगा ?"

प्रत्युत्तर में सहसा दोनों कुछ न बोले तो लाला ने तनिक ऊंचे स्वर में कहा, "क्यों रे, करेगा कि नहीं ?"

"करेगा, लालाजि, जरुर करेगा···।" जबरबहादुर ने उत्तर दिया, "यह छोरा गरीब है। मामा-बा कोई नहीं···।" फिर मुड़कर काछा की ओर देखा, "क्यों कांछा, लाला की नउकरी करेगा ?"

काछा ने मौन स्वीकृति में सिर हिलाया।

"क्या लेगा महीना भर का ?" लाला ने पूछा।

"जो माई-बाप देगा, हजुर लेइ लेगा!" जबरबहादुर ने उत्तर दिया।

"नगद चार रुपिया महीना देगा। खाना-पीना देगा। कपड़ा-लत्ता देगा। साथ-साथ, बड़ी-बीड़ी सब देगा।" लाला जितना-जितना कहता जा रहा था, कृतज्ञता के भार से दोनों झुकते जा रहे थे।

"क्या नाम है दाइ तेरा ?" लाला को जैसे कुछ याद आया।

"काछा।"

"काछा ?" लाला अपना पोला मुंह फुलाता हुआ जोर से हंस पड़ा, "यह क्या होता है ?"

"नाम है हजुर···।" जबरबहादुर ने कहा।

"तो अब खड़ा क्यों है ? काम पर लग जा अभी से। नोकरी पक्की···।" लाला ने सामने रखी दोनों बाल्टी की ओर इंगित किया, "इसे बाहर कमेटी के नल पर लगा दे। भर जाए तो उठा देना।" उसकी ओर देखते हुए तनिक रुककर कहा, "उठा सकेगा ?"

कांछा उसकी भाषा अधिक समझ न पाया। फिर भी इतना तो

पल्ले पड़ ही गया कि लाला बाल्टी भरने का आदेश दे रहा है।

लाला को जैसे कुछ स्मरण हो आया। तनिक पसीजता हुआ बोला, "छोकरे, पूरी नहीं उठा पाएगा। इसलिए आधी-चौथाई ही लाना, समझे!" 'समझे' पर जितना अधिक ज़ोर था, उससे अधिक सहानुभूति!

"लालाजि, यह गरीव है···अव आप हि माइ-वाप हो···!" हाथ जोड़ता हुआ जवरवहादुर बोला, "जैसे तुम रखेगा, यह रहेगा···।"

"अरे, हम कौन कह रहे हैं कि यह अमीर है। तुम फिकर मत करो। छोकरा अपने घर की तरह रहेगा···हां, चोरी-चकारी तो नहीं करेगा?"

"न्नां, न्नां सेठजि ऽ। ऐसा नहीं। छोरा इमानदार है। चोरि नहि करेगा। तुम तो माई-वाप हो। चोरि करेगा तो परलोक नहीं विगड़ेगा। नर्ग में नहीं जाएगा!" हाथ जोड़कर जवरवहादुर ने उत्तर दिया।

"तुम क्या करेगा?"

"नउकरी-सौकरी करेगा—कुल्लिगिरि···!" हाथ जोड़कर वह चला गया।

कांछा का सारा दिन जूठे वर्तन मांजने, जूठी पत्तलें उठाने में ही वीत जाता। लाला ने अपनी उतारी हुई फटी कमीज़ दे दी थी—जिसके अन्दर तीन व्यक्ति आसानी से समा सकते थे। सामने 'शर्मा रेडीमेड वस्त्र भण्डार' से नीली जीन की एक हल्की-सी जांघिया खरीद दी थी।

एक नौकर और था, इससे कुछ वड़ा, जो लाला के वगीचे वाले घर में ही रहता था अव। एक दिन कांछा घर से लाला के लिए दिन का भोजन ला रहा था, तो शरारत से उसके कान के पास मुंह ले जाकर वोला, "लाला अच्छा आदमी नहि। वीनी को ससुराल में ही छोड़ रखा है ··।" वह अपने आप हंस पड़ा था।

जिस दिन रात को लाला अधिक देसी पी लेता, दुकान पर ही सो जाया करता था।

इस चमक-दमक के वीच कांछा के अवोध मन में कहीं विरक्ति का भाव भर रहा था—वितृष्णा का। ऐसा सव क्या है? क्यों?—उस अवोध की समझ में नहीं आता था।

बारह

सारी रात पानी बरसता रहा था। जब तक पुराने टीन की टूटी छत जगह-जगह से टपकती रही। जिस कारण काछा सो न पाया था। सुबह जैसे ही आंख लगी कि किसी ने ज़ोर-ज़ोर से किवाड़ भड़भड़ाए। अचकचाकर आया वह। देखा—चौखानेदार तहमद और बनियान पहने सामने चट्टान की तरह लाला खड़ा है बाएं हाथ में काली छतरी थामे पानी से तर! लाल-लाल आंखों से घूर रहा है।

आंखें मलता हुआ वह अभी खड़ा हो रहा था कि लाला ने आव देखा न ताव। तड़ाक् से एक चांटा उसके गाल पर लगा दिया, "कमीने की औलाद, तू अब तक सो रहा है! दिन कब का निकल आया! बस के सारे पैसेंजर आज हाथ से निकल जाएंगे। ध्याड़ी मारी गई…!"

काछा भौंचक-सा गाल मलता रहा, "बाबू साब, ऊपर से पानी आता रहा—अइसे! अइसे!" छोटे-से हाथ नचा-नचाकर वह बतला ही रहा था कि लाला ने दूसरा चांटा जड़ दिया, "पाजी के बच्चे, अब बहाना बनाना भी सीख गया है!"

चांटा इतनी ज़ोर का लगा कि उसका माथा झनझना आया। नन्हे से नंगे पांव थर-थर कांपने लगे। आंखों के आगे अंधेरा।

अपने दोनों हाथ जोड़ता हुआ क्षमा-याचना के स्वर में बोला, "परभु, गल्ती होइ गिया। माफी…परभु!" उसका कम्पित स्वर लड़खड़ा आया।

"सूरज छत पर चढ़ आया। टेसन की चा की सारी दुकानें कब से खुल गईं। आज की सारी गाहकी तेरी मां की…।"

लाला ने मुठिया के पास ही बटन दबाकर, खप्प-से दोनों छतरी बंद कर दी। उसकी नुकीली नोक की तरफ से किवाड़ के सहारे उल्टी खड़ी कर दी, "सूअर की औलाद, देखता क्या है मेरा मुंह! जा, जल्दी-जल्दी

दरवज्जे खोल। बुहारी लगा···।"

अभी वह सिरकी से सड़ाक्-सड़ाक् झाड़ू लगाकर धूल उड़ा ही रहा था कि खादी के मैले झाड़न से तराजू और बट्टों पर जमी धूल झाड़ते हुए लाला ने कहा, "बछिया के ताऊ, जल्दी-जल्दी हाथ चला···अच्छा, छोड़ इसे। बाद में आंगन पे बुहारी लगइयो, पैले अंगीठी सुलगा ' कौले डाल···।'

कांछा ने रोज की तरह पहले अंगीठी में लकड़ी की छोटी-छोटी गिट्टियां लगाईं। फिर उसके ऊपर पत्थर के टूटे कोयले। पर आग थी कि आज जलने का नाम ही नहीं ले रही थी। गीली लकड़ियों से केवल धुआं उमड़कर रह जाता। अंगीठी के पास बार-बार मुंह ले जाकर फूंक मारने से आंखें लाल हो गई थीं। उनसे पानी बह रहा था। मैली, फटी आस्तीन से लगातार आंखें पोंछता हुआ, वह बहती नाक सुड़क रहा था।

लाला गुल्लख के पास, गद्दी पर बैठा, देर तक यह तमाशा देखता रहा—भीतर-ही-भीतर सुलगता रहा। तभी एकाएक पता नहीं क्या क्रोध चढ़ा उसे। बिदके सांड की तरह उछलता हुआ कूदा। अंगीठी पर लात जमाकर उसकी ओर मुड़ा। दो हाथ उसके लगाकर, पिल्ले की तरह कान घसीटता हुआ, सड़क के उस पार तक छोड़ आया, "ससुरा, कम-जात! खावे हैं किल्लो-किल्लो भात भकर भकर! काम के नाम पर जे हाल! अंगीठी भी सुसरे को जलानी नां आवे हैं!···निकल्जा··· निकल्जा साले! अब इधर फटका तो हरामजादे की दोनों टांगें तोड़ दूंगा···!"

आसपास की दुकानों के लोग, सड़क पर चलते सभी मुसाफिर इकट्ठा हो गए थे—लाला हरदुआरी लाला का तमाशा देखने के लिए।

तहमद की लांग ऊपर बांधकर लाला स्वयं अंगीठी सुलगाने में जुट गया, गालियां बकता हुआ।

सड़क के दूसरे किनारे पर, बगीची की दीवार के पास, अमियां के बूढ़े पेड़ के तले, पत्थर पर बैठा कांछा कुछ देर तक सिसक-सिसककर रोता रहा। बारिश की बौछारें जैसे ही फिर तेज हुईं, वह पेड़ से सटकर

खड़ा हो गया। पानी की मोटी-मोटी लकीरें शाखाओं से सरककर तने को भिगोने लगीं तो वह दौड़ता हुआ टेशन की ओर मुड़ा। प्लेटफार्म के नीचे खड़ा होकर भय से चारों ओर देखने लगा—

तेरह

प्लेटफार्म के किनारे, समतल जमीन पर, दूर तक लोहे की दुहरी पटरियां बिछी हैं। उनके दोनों किनारों पर पत्थर की छोटी-छोटी गिट्टियां बिछी हैं—धूल, राख और कोयले के कारण एकदम काली लग रही हैं। बहुत से कुलि अपने कन्धों पर चिरी हुई लकड़ी के शहतीर उठाए, पटरी पर रखे लोहे के खुले डिब्बों में चढ़ा रहे हैं—नीचे बल्लियों का खड़ा पुल-सा बना रखा है, जमीन से डिब्बे तक चढ़ने के लिए। दूसरी ओर की पटरी पर भी कुछ खुले डिब्बे हैं, जिनमें मजदूर गोल-गोल, बड़े-बड़े सफेद चिकने पत्थर भर रहे हैं। ऐसे पत्थर तो नदी के किनारे-किनारे कितने बिखरे रहते हैं, कोई पूछता तक नहीं। फिर इन्हें इस तरह कहां ले जा रहे होंगे? क्या करेंगे इनका?···दाहिनी तरफ लकड़ियां-ही-लकड़ियां! तरकीब से, अलग-अलग चट्टे बने हैं। जंगल में तो ऐसी कितनी लकड़ी पड़ी रहती हैं!···एक मरियल-सा कुत्ता कूड़े के ढेर में से पत्तलें नोच रहा है··· बरखा के पानी में भीगे कुछ मजदूर सिर छिपाने के लिए, दौड़ते-हांफते उस ओर आ रहे हैं, जहां वह बैठा है···

शाम तक वैसा ही भूखा-प्यासा वह बैठा रहा। जब-जब उसे अधिक भूख लगती, मां की याद आ जाती। मां खुद भूखी रहकर भी उसके लिए आले में रोटी छिपाकर रखती थी। रोटी न हो तो मकई होती। ककड़ी मूली, दाड़िम-अखोड़—पता नहीं कहां-कहां से मांगकर, बटोरकर उसके लिए रखती थी। जब से जेठा दाइ मरा उसके प्रति मां की ममता और भी अधिक बढ़ आई थी। लोग कहते, उसका बड़ा भाई बीमारी से मरा था, पर मां का कहना था कि वह भूख से मरा

था। बीमारी से ठीक होने के बाद पथ्य में देने के लिए उसके पास दो दाने चावल के भी न थे। उसने चुपके से पता नहीं क्या खा लिया था, जिससे उसी रात उसकी मृत्यु हो गई थी…

वारिश अब बन्द हो गई थी। तापहीन धूप का टुकड़ा, फटी चादर की तरह मटमैली धरती पर बिछा था। बादल अभी तक छाए हुए थे आसमान पर। पहले वह देर तक प्लेटफार्म पर ही इधर-उधर भटकता रहा। पांव थक गए तो प्लेटफार्म की छत से लगे लोहे के गोल खम्भे के सहारे खड़ा हो गया। फिर बैठ गया। बैठे-बैठे पता नहीं कितना समय बीता! उसकी पथराई पलकें मुंदने लगीं तो बित्ते-भर की जगह पर, कपड़े की गीली पोटली की तरह मुड़ा-तुड़ा वह सिमटकर सो गया। देर तक सोया रहा।

तभी किसी ने डण्डे से कोंचा तो वह हड़बड़ाकर जागा। देखा— सामने लम्बा-चौड़ा आदमी खड़ा है—बूट-पट्टी कसा हुआ, "हियां क्या कर रिया रे, जिनावरऽ!"

आंखें मलता वह देखता रहा।

"देखता किया है? उठ्ठ हियां से!" उसने डण्डे को हल्के से ऊपर-नीचे हिलाते हुए कहा, "चोर-उचक्के सभी कमजातों के लिए यही जगै है…।"

"…।"

"उठ्-उठ्।" डण्डे की नोक से कोंचकर उठाने लगा तो वह डरे हुए कुत्ते की तरह चुपचाप बाहर निकल गया।

बत्तियां जल चुकी थीं। पीलीभीत की तरफ से आने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा में बेंच पर बैठा फौज का एक जवान यह सब देख रहा था। पुलिस का सिपाही चला गया, तब भी वह लड़का प्लेटफार्म के बाहर, नीम के पेड़ के नीचे वैसा ही बैठा रहा। उसके सामने ही बरखा के पानी के कारण हथेली के बराबर नन्ही-सी तलैया बन गई थी—जिसमें फुर्-फुर् चिड़ियां नहा रही थीं।

बादल घिर-घिर रहे थे।

ज्यों ही फुहारें शुरू हुईं, वह थर-थर कांपता फिर प्लेटफार्म की छत

की शरण में आ टिका—भय से, आशंका से इधर-उधर झांकता हुआ कि कहीं बूट-पट्टी वाला डण्डा उठाए फिर न आ धमके !

"ऐ डोटियाल दाइ···ऽ !" सैनिक ने न जाने क्या सोचकर उसे आवाज़ दी।

अंगुली का इशारा देखते ही वह सहमा-सा, सिमटा-सा पास आ गया। अरे, इसके भी वैसी ही बूट-पट्टी !

"बैठ जा···।"

कांछा सिमेण्ट के ठण्डे फर्श पर वैसा ही सकुचाया-सा बैठने लगा तो, "नहीं, नहीं, ऊपर बैठ," कहते हुए सैनिक ने बेंच पर ही बैठने का इंगित किया।

वह और भी सकुचाया और लोहे की बेंच के दूसरे सिरे पर थोड़ी-सी जगह में समाकर बैठ गया।

"कहां का रहने वाला है ?"

कांछा की समझ में न आया।

"मैं पूछता हूं, घर कहां है तेरा ?" सैनिक ने कुछ ऊंचे स्वर में पूछा।

"डोटि—नइपाल।"

"कहां—?"

"डडेलीधूरा के पास···सहरडोटी में आगे···।"

"यहां कैसे आया ?"

"नउकरी-चाकरी···कुल्लि-मजदुरी···!"

"कहां करता है नोकरी ?"

वह मौन देखता रहा।

"अरे, मैं पूछता हूं, नोकरी किसकी दुकान में करता है ?"

"लाल्ला की···।"

"फिर यहां क्या कर रहा है ?"

"लाल्ला निकाल दिया···।"

"क्यों निकाल दिया ?"

"····"

"नौकरी करेगा ?"

उसने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"पहाड़ चलेगा, हमारे साथ—?"

उसने उसी तरह फिर सिर हिलाया—"हां।"

"कितना रुपया लेगा महीना का, बोल ?"

कोई उत्तर न दे पाया वह।

तनिक सोचते हुए सैनिक ने कहा, "हमारे साथ गांव चल। वहीं रहेगा। खाना-पीना, कपड़ा-लत्ता, बीड़ी-तमाखू सब मिलेगा। तनखा ऊपर से।"

अभी तक उसी अबोध मुद्रा में बैठा वह देखता रहा।

"रोटी खाई—?"

उसने मात्र सिर हिला दिया, "नहीं।"

"खाएगा ?"

"हांऽ।"

सामने खड़ी रेड़ी से कुछ पूरियां और सब्जी ला, पत्तल उसके सामने रख दिया।

आलू की सब्जी और गरम-गरम पूरियां देखकर उसकी भूख और बढ़ आई। अपने दोनों हाथों से बड़े-बड़े ग्रास तोड़ता हुआ वह खपाखप खाने लगा। जैसे महीनों से अन्न का दाना देखा ही न हो।

खाना खा चुकने के बाद वह आलू के फटे पत्तल पर लगी सब्जी चाटने लगा—चट्-चट् लम्बी जीभ निकालकर।

"और लेगा क्या ?"

"न्नां···।"

"तो जा, सिमेण्ट के चबूतरे के भीतर वह नलका लगा है, पानी पी आ···।"

लौटा तो उसके मुरझाए मुखड़े पर सन्तोष का अपरिमित भाव था।

"बीड़ी खाएगा···?" सैनिक ने एक बीड़ी उसकी ओर फेंकी।

चौदह

जैसे अपने गांव वह फिर पहुंच गया हो। यहां आकर उसे वैसा ही लगा। वैसे ही ऊंचे-ऊंचे पहाड़—बर्फ से ढके। वैसे ही पत्थर, वैसे ही देवदार, चीड़-बांज, बुरांस, खरसू के पेड़, फ्यूंली की पूरी डाल पर बिछी फूलों की चादर। रामबांस, कुइया, हिंसालू, किलमोड़े, दाड़िम, अखोड़—सब कुछ वैसा ही।

मैदान की अपेक्षा एकदम सर्दी। फर्-फर् ठण्डी हवा चल रही थी। धीरे-धीरे कंपकंपी-सी लगने लगी उसे। ठण्ड से शरीर पर कांटे-से उभर आए थे। जब-जब ऐसा होता है, उसे सहसा मां की याद आती है। उसके ठिठुरते हुए, कांपते हाथों को, अपनी खुरदरी, रक्तहीन हथेलियों से सह-लाती हुई चिन्तित स्वर में अक्सर कहती थी, "काछ, तू इतना दुबला-पतला है कमजोर···इस निठोर दुनिया में तू कैसे जिएगा रे···?" [illegible] का आर्द्र स्वर कंपकंपाने लगता।···उसकी आंखों [illegible] आगे धुआं-सा छाने लगा। एक क्षण कुछ सोचता हुआ वह [illegible] झटके से सिर हिलाता हुआ आपने में आ गया।

अब तक पांव सही ढंग से जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। [illegible] रहा था, रिंगाई-जैसी आ रही थी। लोहे के बड़े-बड़े [illegible] एक दूसरे से जुड़े-खड़खड़ाते हुए आगे सरकते वैसा ही [illegible] गाड़ी सड़क पर धूल उड़ाती हुई [illegible] देखा था बहुत बार···डरते-डरते छूआ भी था [illegible] हिम्मत नहीं हुई थी···इस बार जब बैठा तो [illegible] जैसा अहसास हुआ था···

घुमावदार ऊबड़-खाबड़ मोड़ों पर [illegible] आंखें मूंद लेता। यहां गाड़ी नीचे सड़क से [illegible]

[illegible]

देवदार के पेड़ों के पास एक समतल-सी जगह पर गाड़ी रुकी। कुछ लोग उतरे तो उनके साथ-साथ वे दोनों भी नीचे उतर पड़े थे।

धूल से अंटे किसी आदमी ने गाड़ी के पीछे लगी लोहे की छोटी-छोटी सीढ़ियां चढ़कर सामान नीचे उतार दिया था।

गाड़ी धूल उड़ाती हुई फिर आगे चल पड़ी तो वहां पर वे ही दो लोग रह गए थे।

उसके सिर पर छोटी-सी टिन की बक्सी, और अपने कन्धे पर खाकी किरमिच के गोल, लम्बे थैले को रखकर वह मिलिट्री के बूटों से बजरी रगड़ता हुआ आगे बढ़ने लगा था।

"कब आए भौंना?" किसी बुजुर्ग ने कहा तो "पैलांग" कहते हुए उसने गरदन किंचित् नीचे झुकाई थी।

"मल्ले घर का भवानसिंह सिपाही घर आया है।" चारों ओर यही चर्चा शुरू हो गई थी। अपने घरों के आंगन की तीर पर खड़े लोग जिज्ञासा से, किस तरह से देखने लगे थे—उसे आता हुआ!

"ले, तेरे लिए इस बार एक नन्हा-सा नौकर ले आया हूं—हाथ बंटाने के लिए!" कन्धे का सामान नीचे उतारते हुए भवानसिंह ने कहा था।

सामने खड़ी औरत हंस पड़ी थी, "नौकर कहां, यह तो नौकर की पोथि है—छोटा-सा छौंना। किस घोंसले से उठा लाए···?"

"अरे, जैसा भी है, है तो आदमी का ही बच्चा! कुछ तो हाथ बंटाएगा। घर में तू अकेली रहती थी न! अब यह साथ हो गया···।"

औरत और जोर से हंस पड़ी थी, "इस बच्चे का साथ? हां, उठा कहां से लाए?"

"खटीमा टेसन पर भूखा पड़ा था, उठा लाया।" यह सब सुनकर वह संकोच से और सिकुड़ आया था!

"अरे, खड़ा क्यों है? बैठ! बैठ!" महिला ने तनिक सहानुभूति से कहा था।

वह वैसा ही, वहीं पर चुपचाप बैठ गया था।

"क्या नाम है तेरा?"

"काछा।"

"कानछा ?" वह हंस पड़ी थी।

"....."

"ले, ये चा का गिलास धो ला...।" कुछ रुककर उसने कहा था "फिर तू भी कटकी लगा लेना ! ठण्ड लग रही होगी...कोई बनीन-मनीन नहीं, पहनने के लिए ? ऐसे तो तू मर जाएगा...।"

कुछ ही पल बाद, इस अपरिचित घर में उसका एक अनाम-सा रिश्ता जुड़ गया था—काका, काकी का !

काकी और उसकी दिवंगता मां की आकृति में कितना साम्य था ! वैसे ही चलती, बोलती भी ठीक वैसे ही थी।

दो महीने की छुट्टी बिताकर भवानसिंह जब पलटन में लौट गया तो पूरे घर में वे ही दो प्राणी रह गए थे। ऊपर की मंजिल में वे रहते और नीचे गोठ में गाय-बछिया...

काकी अपने बच्चे की तरह ही उसे सुलाती, खिलाती-पिलाती उसका ध्यान रखती थी। उसके लिए लोधाट के बाजार से वहीं के मोचियों का बनाया, सिलपट का एक छोटा जूता उसने मंगा दिया था। मोटे भोटिया ऊन की एक बनीन भी स्वयं बुन दी थी—हल्दी रंग की, जिसे पहने वह हवा में उड़ता रहता था।

इतनी उम्र होने के बावजूद काकी के कोई बच्चा नहीं था, शायद इसीलिए बच्चों के प्रति इतनी ममता थी !

दसैं के मेले में गांव के प्रायः सभी कौतिकिया लोग गए तो काकी के साथ जिद करके वह भी चला गया था—रंगीन बनीन और गबरून का पैजामा झपकाए।

भैयादूज के मौके पर काकी मैके जाने की तैयारी करने लगी तो चुपके से उसने भी अपने बालों में तेल चुपड़ लिया, "...मैं भी चलूंगा काकी !"

"गाय-बछिया को पानी कौन पिलाएगा ? घास कौन डालेगा ?"

"तल्ले घर वाली नानि आमा डाल देगी ! जब वह अपनी बेटी के घर गई थी गहलोड़ा, तब हमने ही उसके ढोर-डंगरों की कितनी देखभाल

की थी···!" काकी के चेहरे पर उभरते भावों को वह अपनी ऊपर उठी निरीह आंखों से परखने लगा। दाएं हाथ की अंगुलियों को पकड़कर झूलता हुआ बोला, "यहां अकेले मुझे डर नहीं लगेगा···?"

काकी मना न कर सकी अब।

टाट के झोले में काकी ने अपने दो-तीन कपड़े डाले तो उसने झोला कन्धे पर उठा लिया, "नहि मैं पकड़ूंगा!"

"तो मैं हाथ में क्या ले जाऊं···?"

"खाली चलो—मेरे साथ। बड़े लोग सामान थोड़े ही उठाते हैं···!'

उसकी अबोध आकृति की ओर ताकती हुई काकी हंस पड़ी, "बहुत सयाना हो गया है, जल्दी···! कहीं लकड़ी के ठेकेदारों के साथ टनकपुर मण्डी की तरफ न भाग जाना···!"

"तुझे छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगा काकी!" अपने दोनों नन्हे हाथों से उसने काकी के पांवों को जोर से जकड़ लिया था।

पन्द्रह

यहां आकर कांछा सबके लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र बन गया। बड़ा हंसमुख! बड़ा चटपट। नेपाली-डोटियाली के साथ जल्दी ही उसने पहाड़ी बोली भी सीख ली थी!

सबसे जल्दी ही घुल-मिल गया था वह। काका-काकी, मामा-मामी के रिश्ते यहां भी जोड़ लिए थे उसने।

यहां गाय-भैंसों से भरा गोठ देखकर बहुत अधिक प्रसन्न हो उठा था वह। एक कोने पर मिमियाती बकरियां थीं—छेलि, हेल्वान, पाठियां! हेल्वानों से ठेप देता हुआ वह, माथा भिड़ाकर सींग लड़ाता। "ले-लेऽ" कहता हुआ कभी उनके माथे पर अपने खुले पंजे से प्रहार करता—अपने दोनों पांव दीवार से जमाकर।···बकरी की एक छोटी-सी पाठी, चीतल के जैसे रंगवाली, को वह गोदी में उठा लेता। जब तक कि

सियानी हुई, वह उछलकर नीचे से कूद न जाती, छोड़ती न थी
झुण्ड-का-झुण्ड हांकता हुआ जंगल ले जाता, और सांझ गए से पहले
लौटता न था घर।

कुछ दिन वहां रहकर जब वे लौटने लगे तो हिचकते-हिचकते काशी
बोला, "इस पाठी को हम अपने साथ घर ले जाएं काकी ? वहां पानी
के नौले के पास खूब हरी-भरी घास होती है। वहीं चराएंगे…।"

काशी के वृद्ध पिता नारियल की काली चिलम की मूठ दोनों हाथों
में पकड़े, दरवाज़े के पास बैठे, खांसते हुए धुआं उगल रहे थे। बोले, "अरे,
ले जा रे बच्चा…ले जा…हां, ध्यान रखना, कहीं लोमड़ी-सियार न उठा
कर ले जाएं…!"

"नां-नां" कहती हुई भी अन्त में काकी उसे उठा ही लाई, "काका
दिन भर खाली रहता है। इसे ही चराएगा…।"

सोलह

साल-भर से अधिक अर्सा बीत गया था, परन्तु भवानसिंह इस बार पलटन से सालाना छुट्टियों में गांव न आ पाया था। पहले उसकी चिट्ठी आई थी। लिखा था—चैत में आएगा। फिर जेठ में आने को लिखा और अब सावन बीत रहा था…

एक दिन शाम को छीमानन्द के आगन में, तल्ले घर, मल्ले घर के तमाम लोग बैठे तमाखू पी रहे थे। करमसिंह मारा के बेटे हयातसिंह की पलटन से चिट्ठी आई थी। लिखा था—हमारे भवानदा का अपने किसी साथी सिपाही से झगड़ा हो गया था। रात को उसे न जाने क्या सूझा ? अपने सोए हुए उसी साथी को उसने गोली से उड़ा दिया। अब पलटन की हवालात में है। कहते हैं, उसे फांसी होगी या उमर कैद।

हयातसिंह भवानसिंह की ही बटालियन में था।

लोगों का कहना था—शायद सिर फिर गया हो बेचारे का ! कुछों

का सोचना था कि विधवा भाभी ने जो घात डाली थी, सम्भवतः उसी का प्रभाव हो। झक्की तो वह बचपन से ही था, पर ऐसा गैरज़िम्मेदाराना काम भी करेगा—कोई सोच नहीं सकता था। पिछली लड़ाई में उसे सरकार की ओर से इनाम भी मिला था···।

काकी ने सुना तो उसकी आंखें खुली-की-खुली रह गईं। अब क्या होगा? कैसे? समझ में न आ पा रहा था।

मैके जाकर उसने चिट्ठी लिखवाई, पर उसका भी कोई उत्तर मिल न पाया था···!

फौज से पैसे आने भी अब बन्द हो गए थे, जिससे गुज़ारा चलाना और भी कठिन हो चला था। वक्त-बेवक्त मां कुछ भेजती रहती थी, अन्यथा चूल्हा जलाना भी कठिन हो जाता···

काकी का बुझा-बुझा चेहरा अब उसे वैसा ही लगता, जैसा उसके पिता के घर न लौटने पर मां का लगा था। दिन-रात आंखें झरती रहतीं···।

जाड़ों के बाद फिर जाड़ों का मौसम शुरू हो रहा था। काकी की ग्यांलि गय्या बिक गई थी। एक दिन कोई बछिया भी हांककर ले गया था। नाम मात्र के गहने-पत्ते पहले ही गिरवी रखे जा चुके थे। काकी की सूनी कलाइयों में पीतल की दो चूड़ियों के अलावा अब कुछ भी शेष न था। मैके से भाई आया था—बुलाने के लिए—जाड़ों के कुछ दिन वहीं कट जाएंगे, पर उसने मना कर दिया था।

आसपास के अधिकांश लोग तराई की तरफ कब से निकल चुके थे—कुछ महीने के लिए मेहनत-मजूरी की तलाश में।

सारी बस्ती उजाड़-उजाड़-सी लगती—इक्के-दुक्के लोग ही कहीं-कहीं दिखलाई देते थे···।

एक दिन शाम को वह अंगेठी में आग सुलगा रहा था। आग में जंगल से बटोरी चीड़ की बकरियां भरक रही थीं। तभी उसने मुड़कर देखा—कोई पीछे खड़ा है। लम्बा-चौड़ा। पलटनियां-जैसा। तीखी, तिरछी लम्बी मूंछें—भेड़िया-जैसा!

कांछा को झटका-सा लगा।

काकी ने संकोच से पिछौड़ी का चाल लम्बा खींचते हुए, उसके बैठने के लिए दरी बिछा दी थी।

"यह कौन है काकी ?" उसने चुपके-से पूछा तो पहले काकी चुप रही, फिर कुछ सोचती हुई बोली, "पाहुना है—दूर का रिश्तेदार। तेरे काका का भाई···।"

उस रात वह वहीं रुका था।

कुछ सप्ताह बाद वह फिर आया था। दो दिन तक रुका रहा था···। रात के अंधियारे में, सबके सो जाने के बाद, भीतर वाले कमरे में काकी के रोने और उसके मनाने का स्वर देर तक गूंजता रहा था···

महीना भी अभी बीता नहीं था कि वह घर के आंगन में फिर खड़ा दिखलाई दिया था। उसके साथ सामान की एक बड़ी पोटली भी थी इस बार।

उसकी मिची-मिची कादया आंखें, भौं पर ढेर सारे बाल, छोटे-छोटे कान ! काछा को यह व्यक्ति कतई भी अच्छा नहीं लगा था। न इसका आना ही। जब भी वह इसे देखता, एक तरह की दहशत-सी होती मन में।

काकी इस बार इतनी उदास नहीं लग रही थी।

एक दिन काछा बाहर से लौटा था। उसने देखा था—दोनों आग के पास बैठे बतिया रहे हैं। काकी को वह अपने साथ, अपने गांव ले चलने के लिए मना रहा है। सामने पोटली खुली है। काकी के लिए वह नये कपड़े लाया है। चूड़ियां लाया है। फुन्दे-झुमके लाया है···

पर काकी चुप है। असमंजस में डूबी आसमान की ओर देखती हुई···

शाम को, आंगन में बैठा काछा अपनी बकरी को घास खिला रहा था तो उसने कहते सुना, "क्यों रे काछा, तेरी बकरी तो अब खाने लायक हो गई है···क्यों ?" व्यंग्य से देखता हुआ वह 'हों-हों' हंस पड़ा था।

यह हंसी कितनी कष्टकर और भयावह लगी थी उसे ! सहसा मन में नया सन्देह भी उपजा था—कहीं वह पहले की तरह पानी लाने नौला गया तो, पहले की ही तरह लौटने पर आंगन में जलती आग न दीखे ! उसकी नन्ही-सी बकरी की गरदन एक ओर कटी और यह भेड़िया-सा आग में भूनता हुआ···

बकरी से वह क्षणभर के लिए भी अलग न हो पाया था। काकी ने एक-दो बार किसी जरूरी काम से बाहर जाने के लिए कहा, पर वह जान-बूझकर टाल गया था।

उसके सीने में रह-रह के भूचाल धरक रहा था। रात उससे खाना भी निगला न गया था। वैसा ही उसने परे रख दिया था। इतनी सर्दी के बावजूद उसे ढंग से कपड़े लपेटने का होश न था। उसके मन में बार-बार एक ही शंका उठती रही---कहीं फिर सब वैसा ही, वैसा ही, वैसा ही तो नहीं हो रहा···!

उसकी पुतलियाँ खुली की खुली थीं। सारा शरीर ठण्डे पसीने से नहा आया था।

यह छोटी आंखोंवाला खूंख्वार भेड़िया कल नहीं तो परसों, परसों नहीं तो निरसों फिर बकरी को मारकर खा जाएगा···फिर एक दिन, पहले की तरह काकी के साथ-साथ उसे भी हांककर अपने घर ले जाएगा··· वहां इसकी चिड़चिड़ी, बुढ़िया-सी पत्नी होगी। ढेर सारे बच्चे। वे बच्चे उसके साथ वैसा ही दुर्व्यवहार करेंगे। यह आदमी नहीं, नहीं-नहीं, भेड़िया उसे उसी तरह पीटेगा--बिना बात। काकी गूंगे पशु की तरह सब सहती-देखती रहेगी···और फिर एक दिन वह ढोर-डंगरों के लिए घास लाने जंगल जाएगी···और वहीं किसी छिछली चट्टान से···मां का रक्त से सना क्षत-विक्षत शरीर···धू-धू कर आग की लपटों में जलता शव···उसे कहीं साफ दिखलाई दे रहा था।

सहसा वह जोर से चीख पड़ा!

"नहीं···नहीं···" कम्बल परे पटककर, बदहवास-सा वह उठ बैठा, "नहीं, ऐसा नहीं होगा···नहीं, नहीं···!" मुट्ठी भींचकर, दांत पीसकर अंधियारे में छटपटाने-सा लगा।

बाहर हल्की-सी आहट हुई।

उसने देखा—

सुबह होने को है। बाहर सारी धरती बर्फ से ढकी है। जहां तक दृष्टि जाती है—सफेदी-ही-सफेदी। सांकल खोलकर काकी शायद पानी के

पास गई है। ताज़ी बर्फ पर पाँवों के पड़ने के गहरे निशान हैं…

दबे पाँव वह भीतर की ओर मुड़ा—किवाड़ धीरे-से उढ़काकर। तेज हवा बह रही थी।

भीतर का दरवाजा यों ही बन्द था।

थोड़ा-सा खोलकर दरार से उसने झाँका—

भेड़िया मुर्दे की तरह लम्बा लेटा खर्राटे भर रहा है…

उसकी टटोलती निगाहें इधर-उधर मुड़ीं। दाईं ओर दीवार के सहारे मोटे पत्थर की भारी, चपटी शिल खड़ी करके रखी थी…।

काछा को न जाने क्या सूझा!

कहा उसमें इतनी शक्ति आई!

उसने अपने दोनों हाथों से भारी-भरकम शिल ऊपर तक उठाई और सोए हुए भेड़िए के सिर पर धम्म् से दे मारी…

जल्दी में, हाँफता हुआ फिर वह बाहर की ओर दौड़ा। अपनी बकरी की रस्सी खोली और उसे गोदी में उठाए, रास्ते में बिछी बर्फ को रौंदता हुआ, पहाड़ी के दूसरे ढलान की ओर निकल भागा—जहाँ लम्बी-चौड़ी सड़क थी, और भी कई रास्ते, जो उसे कहीं भी ले जा सकते थे।